RNI No. MPHIN/2008/25073 डाक प्रेषण : प्रतिमाह की 7 तारीख डाक पंजीयन क्रमांक मालवा डिवीजन/324/2016-2018

AISECT UNIVERSITY™
MADHYA PRADESH Where aspirations become achievements.

आईसेक्ट विश्वविद्यालय की अभिनव प्रस्तुति

कथा मध्यप्रदेश
अविभाजित मध्यप्रदेश के कथाकारों पर केन्द्रित वृहद कथाकोश
संपादक–संतोष चौबे

विगत सौ वर्षों की कहानियाँ अर्थात अविभाजित मध्यप्रदेश के हिन्दी की पहली कहानी के प्रणेता माधवराव सप्रे से लेकर आज तक के युवतर कथाकारों की कहानियों का वृहद कथाकोश।

सुंदर, चित्ताकर्षक छपाई, छः खंडों में विभक्त हिन्दी का पहला कथाकोश, 228 कथाकारों की कहानियाँ और कथालेखन को व्याख्यायित करते समीक्षात्मक आलेख ।

मूल्य : ₹ 5000
छूट सहित मात्र : ₹ 3500 में उपलब्ध
(डाक से मंगाने पर डाक खर्च अलग से देय होगा)

कथा मध्यप्रदेश प्राप्त करने के लिये संपर्क करें
मोहन सगोरिया
आईसेक्ट विश्वविद्यालय, बंगरसिया चौराहे के पास, विदिशोट मार्ग,
जिला रायसेन-464993
मो. 9630725033, फोन : 91-755-6766366,
ई-मेल : mohansagoriya1974@gmail.com

प्रेषक : मुकेश वर्मा (प्रधान संपादक)
'समावर्तन' (हिन्दी मासिक)
माधवी, 129, दशहरा मैदान
उज्जैन (म.प्र.) 456 010

पुस्त-प्रेष्य

यहाँ पते चिपकायें

स्वामी, प्रकाषक और मुद्रक अजय भट्टाचार्य द्वारा आकृति ऑफसेट, 5 नईपेठ, उज्जैन से मुद्रित एवं माधवी 129, दषहरा मैदान, उज्जैन से प्रकाषित। सम्पादक : निरंजन श्रोत्रिय।

दस वर्षों से
निरन्तर
प्रकाशित
120 वाँ अंक

ISSN - 2348-8638

समावर्तन

वर्ष 10 ■ अंक 12 ■ पूर्णांक 120 ■ मार्च 2018 ■ ₹ 60/-
मासिक पत्रिका

एकाग्र

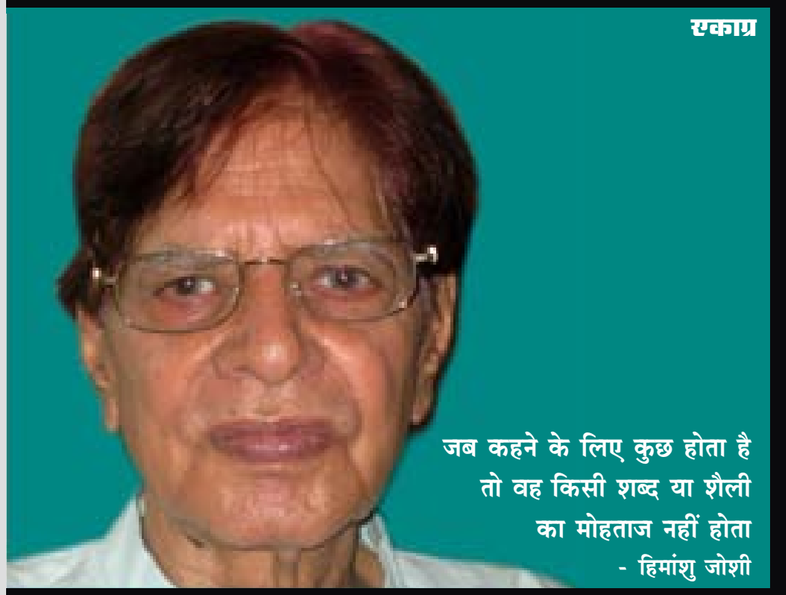

जब कहने के लिए कुछ होता है
तो वह किसी शब्द या शैली
का मोहताज नहीं होता
- हिमांशु जोशी

अभिमुख : रमेश दवे
अनन्तिम : मुकेश वर्मा
मेरा नमन : अजय भट्टाचार्य
रेखांकित : अस्मुरारी नंदन मिश्र की कविताएँ
चयन : निरंजन श्रोत्रिय
कहानी : सड़क : देवांशु पाल
कविताएँ : दुर्गाप्रसाद झाला, जहीर कुरैशी,
अशोक गीते, रोज़लीन
लघुकथाएँ : प्रतापसिंह सोढ़ी, योगेन्द्रनाथ शुक्ल

वक्रोक्ति-27

(व्यंग्य केन्द्रित अर्द्धवार्षिक स्तम्भ)

व्यंग्याभिमुख : सूर्यकांत नागर
व्यंग्याग्र : कैलाश मंडलेकर (प्रसिद्ध व्यंग्यकार)
व्यंग्यशीर्ष : राजकमल (प्रसिद्ध व्यंग्य चित्रकार)
व्यंग्य : प्रकाश पुरोहित
और अंत में : श्रीराम दवे

समकाल : कथाकाल
अन्तोव चेखव की कहानी : नाई की दुकान पर
हिन्दी अनुवाद : ब्रजेश कृष्ण
चयन : मुकेश वर्मा

रंगशीर्ष

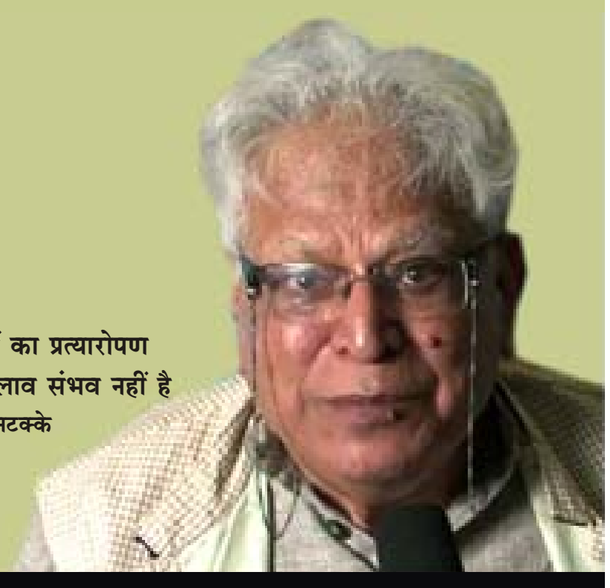

जीवन में मूल्यों का प्रत्यारोपण
किये बिना बदलाव संभव नहीं है
- कमलाकर सोनटक्के

प्रथम पृष्ठ, वीक्षा, साहित्यिक हलचल

ISSN - 2348-8638

वर्ष 10 ■ अंक 12 ■ पूर्णांक 120 ■ मार्च 2018 ■ रु. 60/-

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नयीदिल्ली द्वारा मान्यता प्राप्त
दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय भोपाल द्वारा कमलेश्वर पुरस्कार वर्ष -2010
महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त

समावर्तन

मासिक पत्रिका

सम्पादक मण्डल

संस्थापक : सम्पादन समन्वयक
प्रभातकुमार भट्टाचार्य, उज्जैन

अध्यक्ष : सम्पादक मण्डल
रमेश दवे, भोपाल
मो. 94065 23071

निदेशक प्रबन्धन
रमेश सोनी, इन्दौर
मो. 99264 97611

प्रधान सम्पादक
मुकेश वर्मा, भोपाल
मो. 94250 14166

सम्पादक
निरंजन श्रोत्रिय, गुना
मो. 98270 07736

कार्यकारी सम्पादक : कार्यालय प्रमुख
श्रीराम दवे, उज्जैन
मो. 94259 15010

प्रबन्ध सम्पादक
सदाशिव कौतुक, इन्दौर
मो. 98930 34149

कला सम्पादक
अक्षय आमेरिया, उज्जैन
फो. 0734 2561120

जनसम्पर्क अधिकारी
प्रकाश बांठिया, उज्जैन
मो.98260-69558

सह सम्पादक
राजीव शुक्ला (संस्कृति), इन्दौर
निवेदिता वर्मा (सरोकार), उज्जैन
राधेश्याम मिश्र (प्रबन्ध), उज्जैन

सहायक सम्पादक
वाणी दवे शर्मा, हरदीप दायले, उज्जैन

कार्यालय सहायक
संजय मालवीय,उज्जैन

सम्पादक मण्डल के सभी पद अवैतनिक है।

सम्पादकीय : प्रकाशकीय कार्यालय
''माधवी'', 129, दशहरा मैदान,
उज्जैन (म.प्र.) 456010
फोन : 0734 2524457
(समय प्रातः 10 से 2 बजे तक)
ईमेल : samavartan@yahoo.com
वेबसाइट : www.samavartan.com

सह संस्थापक : सम्पादन परामर्शी
अभिलाष भट्टाचार्य, मुम्बई

मुख्य संरक्षक
संतोष चौबे, भोपाल

सरंक्षकद्वय
ओम अमरनाथ, उज्जैन
राजू पटेल, मुम्बई

परामर्श मण्डल
गिरिराज किशोर (कानपुर), रश्मि वाजपेयी (दिल्ली), नन्दकिशोर नौटियाल (मुम्बई), विश्वनाथ सचदेव (मुम्बई), सादिक (दिल्ली), मंजु तिवारी (भोपाल), उर्मिला शिरीष (भोपाल), महेन्द्र गगन (भोपाल), सत्यमोहन वर्मा (दमोह)

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक
डॉ. अजय भट्टाचार्य, सूरत

समावर्तन का मूल्य
व्यक्तिगत सदस्यता प्रति अंक : 60 रु. वार्षिक : 600/-
संस्थागत प्रति अंक 75/- वार्षिक 750/-
विदेश के लिए प्रति अंक : 10 $ वार्षिक : 100/- $

चेक पर केवल 'समावर्तन' लिखें तथा चेक अथवा मनिआर्डर निम्नलिखित पते पर भेजें
डॉ.प्रभातकुमार भट्टाचार्य
''माधवी'', 129, दशहरा मैदान,
उज्जैन (म.प्र.) 456010

समावर्तन का संचालक मण्डल
प्रनति भट्टाचार्य - अध्यक्ष, उज्जैन
कृष्णा बैनर्जी - संचालक, मुम्बई
तुहिन भट्टाचार्य - प्रबंध संचालक,सूरत

विशेष सम्पादक- वक्रोक्ति
सूर्यकान्त नागर, इन्दौर मो. 9893810050

विशेष सम्पादक- नाट्यराग
भारतरत्न भार्गव - नयीदिल्ली
मो.9811621626

विशेष परामर्शी -लोकराग
शिव चौरसिया, उज्जैन
फो. 0734-2516373

निदेशक - समावर्तन संकुल (प्रतिनिधि मण्डल)
प्रकाश रघुवंशी
उज्जैन, मो. 94250 -91114

दिल्ली ब्यूरो चीफ
परवेज़ अहमद
219, समाचार अपार्टमेन्ट मयूर विहार फेज़-1
दिल्ली-110054, मो. 098111 -54371

मुद्रणालय
आकृति ऑफसेट, 5 नईपेठ, उज्जैन (म.प्र.)
© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से 'समावर्तन' का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद उज्जैन न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

समावर्तन

मार्च -2018

इस अंक में

प्रथम पृष्ठ : वन्दे मातरम्-5 : केदारनाथ शुक्ल 05

अभिमुख : विपरीत समय में साहित्य : रमेश दवे 06

मेरा नमन : इनसे मिलिये (आठ) : अजय भट्टाचार्य 07

एकाग्र

हिमांशु जोशी

परिचय : हिमांशु जोशी : 08

आत्मकथ्य : मैंने अपने आसपास के.... : हिमांशु जोशी : 09

कहानी : पाषाण-गाथा : हिमांशु जोशी : 12

समालोचकों की दृष्टि में हिमांशु जोशी का सृजन : 14

साक्षात्कार : हिमांशु जोशी से चंदर सोनाने की बातचीत 15

सरोकार

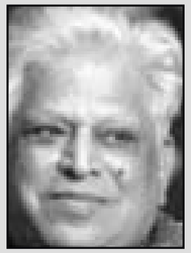

कमलाकर सोनटक्के

परिचय : कमलाकर सोनटक्के : 49

साक्षात्कार : ''चमक के लिये आया हूँ - यह कोई कहेगा ही नहीं'': 50

सुप्रसिद्ध रंगकर्मी प्रशासन और रंग शिक्षक कमलाकर सोनटक्के से ख्यात लेखिका निर्मला डोसी की बातचीत

लघुकथाएँ : प्रतापसिंह सोढ़ी, योगेन्द्रनाथ शुक्ल : 19

रेखांकित : अस्मुरारी नंदन मिश्र की कविताएँ : चयन : निरंजन श्रोत्रिय : 20

कहानी : सड़क : देवांशु पॉल : 24

कविताएँ : दुर्गाप्रसाद झाला, रोज़लीन, अशोक गीते, ज़हीर कुरैशी : 26

समकाल कथाकाल : अन्तोव चेखव की कहानी : नाई की दुकान पर : अनु.ब्रजेश कृष्ण, चयन : मुकेश वर्मा : 28

वक्रोक्ति -27

(व्यंग्य केन्द्रित अर्द्धवार्षिक स्तम्भ) 31-48

वीक्षा : रमेश दवे, भूपेन्द्र हरदेनिया, वीनु जमुआर, श्रीराम दवे :57

साहित्यिक हलचल : 63, अनंतिम : मुकेश वर्मा : 66

अक्षर विन्यास : विवेक शर्मा, हेमेन्द्रसिंह चौहान * मुद्रण संशोधक : गरिमा दवे, ऋषि तिवारी

प्रथम पृष्ठ

अथर्ववेदीय भूमिसूक्त वैश्विक-साहित्यिक धरोहर है। भूमण्डल के वैभव का आपाततः ऋषिद्रष्ट दिव्य-संस्कारानुप्रणित इस सूक्त में 63 मन्त्र है। निर्दिष्ट सूक्त का अनुवाद/पुनर्रचना/भावानुवाद...अनेक विद्वानों द्वारा प्रथित है। 'लेखनी धृष्टता' मैंने भी की है।

//वन्दे मातरम.....5//

हे मातृभूमि
पूर्व दिशा में रक्षणी हो,
उत्तर दिशा रक्षवाणी हो,
आधार-पृष्ठ कोणीय दिशाएँ,
उनमें विचरण करती हैं-
सर्वत्र सुरक्ष-संचार सदा हो-
अविभाजित सम्बन्ध अटूट।।

पूर्व-उत्तर-ऊपर-नीचे,
पृष्ठ भाग से रक्षित हो/हम
शत्रु-मर्दन क्षीणोन्मित हो
सदा-सुरक्षित प्रसन्न रहें,
और/कल्याण कामी संस्कार रहे।।

हे मातृभूमि
सूर्य-प्रकाशित विस्तृत धरातल,
अनावृत हम रहते हैं,
सक्षम इन्द्रियों की शक्ति से,
पूर्ण-आयु उपभोग करें।।

चारों-कोनों-सीधे-ऊपर
शयन करवट खाल में हो,
अखण्डित निद्रा सम्पादन,
पाप-प्रतिघात से दूर रहें।।

हे मातृभूमि!
हल चलते हैं- हम,
बीज बोकर निश्चिन्त हैं
शीघ्रता से बढ़े फसल
यही हमारी साधना है-
- मर्म स्थान पर चोट न पहुँचे,
हृदय तुम्हारा अक्षत रहे।।

हे नि:सीम मातृभूमि!
अर्चना विधान असमाप्य है-
शीत ऋतु की तप-समाधि
वर्षा ऋतु अभिषेक है,
शरद ऋतु नवान्न नैवेद्य,
हेमन्त ऋतु सुन्दर संभार है,
शिशिर ऋतु अलंकरण विधान
वसन्त ऋतु पुष्पांजलि है,
ऋतु-चक्र परिक्रमा का-
प्रकृति परिवेश सम्मोहन है।।

अहो-रात्र का परिवर्तन है,
इच्छित पदार्थ सुलभ हो जाए।
मेघोदर में चंचला विद्युत
अन्तरिक्ष प्रकाश द्रष्ट है,
पशु/ज्ञान-दंश का अवलम्बन है।
मातृभूमि की कृपा से-
ज्ञान-शत्रु का पराभव हो,
शूर-वीर का लक्षण है-यह।।
सिद्धान्त सदा स्वीकार्य है।
(बौधायन धर्मसूत्र)

मेरी मातृभूमि में-
कृषि संस्कारों का अनुशीलन
अनुष्ठान सम्पादन है,
मजूर-कर्म-जाग्-स्फूर्ति,
समरसता-सख्य मातृत्व है,
आनन्द-मग्न पेय-खानपान,
आराधन अभिप्रेत है।।

मेरी मातृभूमि की स्मृति में-
मधुर-गीत-संगीत सुरीले,
अनादिकाल से साथक करते हैं,
उचित-वाणी उचित व्यवहार
भूयसा का साकार रूप है।।

मातृभूमि से विनती है,
-खाद हमारी पूरी हो- जाए,
धान-दीपक - श्री-समृद्धि,
भण्डार रिक्त न हो पाये,
वीरोचित क्रिया-कलाप से
बन्धु-प्रेम का पालन हो।।

वन्दे मातरम्...वन्दे मातरम्...वन्दे

अगस्त/12/31-42 निमाड़ अ.अं.

आवास प्रस्तुति : डॉ. केदारनाथ शुक्ल
61/2, आवास्, इंदौर
फोन - 0734-2512034

अभिमुख

विपरीत समय में साहित्य

रमेश दवे

प्रश्न यह है कि आज का साहित्य और साहित्यकार किस समय में है? क्या यह युद्ध-समय है? क्या यह आतंक-समय है? क्या यह नक्सली-समय है? क्या यह अपराध-समय है? क्या यह बलात्कार और भ्रष्टाचार-समय है? अंतिम नहीं अनंतिम प्रश्न यह कि क्या यह जाति,धर्म, राजनीतिक झूठ, अहंकार और महत्वाकांक्षाओं की हिंसक-होड़ का समय है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर तो खोजने होंगे उन लोगों को जो विचार और चिन्तन में जीते हैं, जो अध्ययन और ज्ञान में जीते हुए बुद्धिजीवी कहलाते हैं और जो लेखन एवं सृजन से जुड़े हैं। भारत इस समय अतीत की कन्दरा से बाहर निकल कर वर्त्तमान के उत्तुंग-शिखर छूने के लिए छटपटा रहा है। इसलिए उपर्युक्त तमाम प्रश्नों से पृथक यह समय डिजीटल-समय माना जा रहा है, स्वच्छ भारत अभियान-समय माना जा रहा है, ई-मेल, ऑन-लाइन, वाट्स एप, फैस बुक, इस्टाग्राम, यू-ट्यूब का समय मान जा रहा है और मनुष्य की जीवित पहचान के बजाए आधार-कार्ड से निर्जीव पहचान का समय माना जा रहा है। देश की युवा प्रतिभाएँ देश-विदेश दोनों जगह कम्प्यूटर की कैद में हैं, किताबें, समाचार और सूचनाएँ अब नेट पर पढ़ी जा रही हैं और पत्र-लिखने की आत्मीयता मोबाइल फोन की कुशल-क्षेम में बदल गई हैं। कहने को तो दूरियाँ कम हो गई हैं, मगर वास्तव में इस यंत्र-समय में दूरियाँ ही दूरियाँ है। परिवार से दूरी, मित्रों से दूरी, सम्बन्धों से दूरी, देश से दूरी परम्परा से दूरी और स्वयं की स्वयं से भी दूरी। इन तमाम प्रश्नों के बीच से एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या यह एक सर्जक या साहित्यकार के लिए विपरीत-समय है? क्या सृजन अवकाश पर है? क्या चिन्तन, अध्ययन और साहित्य-पाठ केवल कुछ शौकीनों की गोष्ठियों में अपने-अपने विचारधारावाद के साथ विवाद या संवाद कर रहे हैं? यदि इतिहास के अंत को भुलाकर या याद करके हम विपरीत-समय को देखें तो जायसी, कबीर, तुलसी, सूरदास, रहीम, रसखान, बिहारी,घनानंद आदि का समय कोई सुविधा-समय नहीं था, मगर वे उस विपरीत और भय-समय में भी जो रच गए, जो रचनाएँ दे गए, वे अमर-कृतियाँ बन गईं। इसी प्रकार छाया-वाद, प्रगतिवाद और राष्ट्रीय कविता के दौर में भी साहित्यकार अंग्रेजी दहशत में जी रहा था, प्रेमचंद की रचनाएँ जब्त की जा रही थी, और उस संघर्ष-समय की विपरीतताओं में ही तो प्रसाद की कामायनी, निराला की राम की शक्तिपूजा, प्रेमचंद के गोदान, मैथिलीशरण गुप्त के साकेत आदि अनेक कवि-कथाकारों की श्रेष्ठतम रचनाओं का सृजन हुआ। तात्पर्य यह कि साहित्यकार की कल्पनाशील-सृजनात्मकता विपरीत समय में कुंठित या स्थगित या निरस्त, या भयग्रस्त न होकर अधिक प्रखर और अधिक परिपक्व हो जाती हैं। ऐसा नेपोलियन के समय में जर्मनी के महान् कवि गोइठे (गेटे) को दबाने के बावजूद कवि का स्वाभिमान नेपोलियन के अहंकार से पराजित नहीं हुआ। ऐसा फ्रांस की राज्य-क्रांति, दो दो विश्वयुद्ध और औद्योगिक-क्रांति या रूस की समाजवादी क्रांति के पूर्व एवं पश्चात् के विपरीत-समय में भी यूरोप का श्रेष्ठ साहित्य रचा गया। इसलिए यदि हम अब यह सोचते है कि हमारा समय मनुष्य-समय न होकर मशीन-समय है, मोबाइल-समय है, डिजीटल-समय है तो इसे विपरीतता की चुनौती मानकर साहित्यकार को चाहिए कि वह अपने शब्द-समय पर डटा रहे, अपना कल्पना-समय और सृजन-समय जी कर श्रेष्ठतम लिखे और पढ़े।

समावर्तन का एक दशक

'समावर्तन' पत्रिका आज से दस वर्ष पूर्व जब देश की राजधानी के प्रमुख बौद्धिक केन्द्र इंडिया-इण्टरनेशनल में एक साहित्यिक पत्रिका के रूप में सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि कुँवर नारायण द्वारा लोकार्पित की गई थी तो उस समय राजधानी के अनेक लेखक अपनी संशयभरी निगाह से यह देख रहे थे कि पत्रिका कब तक जी सकेगी।

उस लोकार्पण-समारोह मे राजेन्द्रयादव, अशोक वाजपेयी, प्रभाकर श्रोत्रिय, राजी सेठ, चित्रा मुद्गल, मंगलेश उबराल, सुनीता जैन, आदि अनेक जाने माने लेखक एवं बौद्धिक थे और तब पत्रिका के संस्थापक डॉ. प्रभात कुमार भट्टाचार्य ने कहा था कि समावर्तन हिन्दी पत्रिकाओं के क्षेत्र में एक नए हस्तक्षेप, या एक नवाचार के साथ आ रही है। इस कथन का प्रमाण यह है कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के शब्दों में समावर्तन के कवर पर एकाग्र, रंगशीर्ष, सरोकार आदि स्थायी स्तंभों के माध्यम से जितने लेखकों के चित्र छापे, उतने आज तक हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं की किसी भी पत्रिका में नहीं छपे। यह समावर्तन का मात्र चित्र-छापना नहीं था मगर उनके साहित्य उनके वैचारिक अवदान और उनके कृतित्व जीवन से न केवल साक्षात्कार कराना था बल्कि उन्हें विस्मृति के पन्नों से निकाल कर पाठकों की स्मृति में पुनः स्थापित करना था।

'समावर्तन' ने दस वर्ष निर्बाध रूप से पूर्ण किए, कोई बड़ी उपलब्धि नहीं। समावर्तन अपने आर्थिक संघर्ष के बावजूद जीवित है, गतिशील है और उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा करने वालों के लिए आश्चर्य है, यह भी कोई बड़ी बात नहीं। हर आत्मजीवी पत्रिका को संघर्ष-पथ के कॉटों से चुभ चुभ कर ही आगे जाना होता है। समावर्तन के पॉव लहू-लुहान तो हैं मगर अभी थके नहीं हैं और तब तक नहीं थकेंगे जब तक पूरी टीम की जिजीविषा कायम है। मध्य प्रदेश का जन-सम्पर्क विभाग छोटे-मोटे दो-चार पृष्ठीय परचे-नुमां अखबारों, पत्रिकाओं को विज्ञापन देता है मगर समावर्तन को उसके दस वर्ष में केवल एक विज्ञापन मिला। शायद समावर्तन के पास विज्ञापन कबाड़ने का हुनर नहीं है। क्या करें सरकारी-विज्ञापन के समक्ष आत्म-समर्पण कर देने से अच्छा है कि समावर्तन अपने स्वाभिमान की मौत मर जाए मगर अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई दया-याचना न करे। 'समावर्तन' को दस वर्ष तक जीवित रखने में हमारे लेखकों, कलाकारों, समाजकर्मियों, विचारकों आदि का अभूतपूर्व योगदान है। समावर्तन की धड़कन इन लोगों की शक्ति की प्राणवायु से चल रही है और आशा है इसे हमारे आत्मीय लेखक जीवित रखने में हमें सतत सहयोग करते रहेंगे। समावर्तन के इस सफल दशक पर समस्त लेखकों, पाठकों, ग्राहकों, सहयोगियों एवं समावर्तन-टीम को हार्दिक बधाई एवं वसंत एवं होली की शुभकामनाएँ!

इस अंक में सुप्रसिद्ध कथाकार हिमांशु जोशी के सृजन पर जहाँ एकाग्र है वहीं जाने माने रंगकर्मी अभिनेता श्री कमलाकर सोनटक्के की रंगयात्रा पर रंगशीर्ष संयोजित है। समावर्तन का लोकप्रिय स्तम्भ 'वक्रोक्ति' भी इस अंक को समृद्ध कर रहा है। सभी लेखकों और सहयोगियों के प्रति आभार।' स

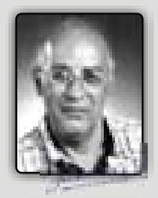

(अध्यक्ष, सम्पादक-मण्डल)
मो.94065-23071

मेरा नमन...

इनसे मिलिये (आठ)

डॉ.अजय भट्टाचार्य
स्वामी-प्रकाशक-मुद्रक 'समावर्तन'

डी.एन.प्रसाद

समावर्तन को नियमित रूप से लेखकीय तथा विभिन्न स्तम्भों हेतु सामग्री भेजने वालों का जब-जब भी जिक्र होता है तब-तब मेरे बाबा (डॉ.प्रभात कुमार भट्टाचार्य) धूपनाथ जी का नाम बार-बार लेते हैं तथा उनके विनम्र स्वभाव और विद्वता की प्रशंसा करते रहते हैं। मेरा संस्कारी मन-मस्तिष्क यह कह रहा है कि जिस व्यक्ति की प्रशंसा बाबा कर रहे हों वह अवश्य ही नमन योग्य हैं। धूपनाथ जी से तो मैं प्रत्यक्ष में नहीं मिला किन्तु जब भाई साहब श्रीराम दवे जी से पूछा तो उन्होंने उनके बारे में विस्तार से कुछ इस तरह बताया-

धूपनाथ प्रसाद अर्थात् डॉ.डी.एन प्रसाद जी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा (महाराष्ट्र) में सहायक प्राध्यापक तो हैं ही गांधी विचार सहित अहिंसा शांति शोध एवं मूल्य शिक्षा, हिन्दी साहित्य, हिन्दी पत्रकारिता, भाषा विज्ञान तथा धर्मवीर भारती साहित्य के अधीत विद्वान् भी हैं। अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान के अलावा विश्वविद्यालय द्वारा नियोजित विविध आयामों का दायित्व निर्वहन करने में निष्णात प्रो.प्रसाद कई अन्य शैक्षणिक उपक्रमों तथा संस्थानों से भी सम्बद्ध है।

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के विभिन्न विषयों के डिग्री पाठ्यक्रमों सहित दलित अध्ययन और फिल्म अध्ययन, पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों निर्माण के अलावा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के अहिंसा, शांति शोध एवं मूल्य शिक्षा, स्नातकोत्तर एवं बनारस हिन्दी विश्वविद्यलय के प्रयोजन मूलक हिन्दी (पत्रकारिता) स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के निर्माण में सहभागिता कर रहे डीएन प्रसाद जी अपने विश्वविद्यालय के प्रकाशन प्रभारी तथा संप्रति बिरसा मुंडा छात्रावास के अधीक्षक के रूप में भी अपनी विनम्र और महत्त्वपूर्ण सेवाएं रहे हैं।

धर्मवीर भारती का कथा साहित्य, महात्मा गांधी का शैक्षणिक चिंतन, उनकी प्रकाशित कृतियां है। कई विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध संस्थानों की शोध पत्रिकाओं के सम्पादक के अलावा प्रो.प्रसाद ने तीन वर्षों तक 'बहुवचन' जैसी शीर्ष साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन भी किया है। महात्मा गांधी काशीपीठ की अर्द्धवार्षिक एवं द्विभाषिक पत्रिका गांधी मिमांसा' के सम्पादक के रूप में भी उनकी सम्पादन दक्षता पाठकों को चमत्कृत एवं लाभान्वित करती रही है।

कई विद्वत निकायों के सम्मानीय सदस्य प्रो.डी.एन. प्रसाद समावर्तन के प्रशंसक और प्रेरक तो हैं ही श्रद्धेय बाबा (डॉ.प्रभातकुमार भट्टाचार्य) के आत्मीय भी हैं। प्रो.प्रसाद के प्रति असीम मंगलकामनाएँ... स

हिमांशु जोशी

सम्पर्क - 7/सी-2 हिन्दुस्तान टाईम्स अपार्टमेंट,
मयूर विहार, फेज - 1 दिल्ली
मोबाइल -

⊙ **जन्म :** 4 मई 1935 (जोस्यूड़ा, जिला - अल्मोड़ा),

⊙ **आत्मज** : स्व.पूर्णानंद जोशी - स्व.तुलसी देवी,

⊙ **कार्यक्षेत्र** : पत्रकार सम्पादक एवं स्वतंत्र लेखक-रचनाकार। इन्द्रधनुष मासिक पत्रिका से पत्रकारीय जीवन की शुरुआत करने वाले हिमांशु जोशी जी ने दैनिक हिन्दुस्तान, कांदबरी आदि पत्र-पत्रिकाओं में कार्य करते-करते 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी लब्धप्रतिष्ठ पत्रिका में लगभग 25 वर्षों तक कार्य किया। मराठी दैनिक पत्र 'राष्ट्रमत' तथा नार्वे से प्रकाशित 'शांतिदूत' और 'अप्रवासी टाईम्स' जैसी कई पत्रिकाओं से वे सम्बद्ध रहे हैं तथा कर्तव्यनिष्ठ सम्पादक, पत्रकार, प्रतिनिधि के रूप में समादृत हैं।

⊙ **सृजन - सम्पादन :** जोशी जी ने कमोबेश सभी विधाओं में सृजन किया है उनकी प्रकाशित कृतियों की संख्या 70 से अधिक है जिनमें तीन कविता संग्रह, अठारह कहानी संग्रह, सात उपन्यास, चार नाटक, तीन यात्रा वर्णन, दस बाल साहित्य, संपादित कथा संग्रह - ग्यारह, साक्षात्कार - एक, आदि।

⊙ **विशेष :** जोशीजी के कृतित्व पर लगभग 35 से अधिक छात्रों ने शोध कर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। आपकी कई रचनाएँ कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। जोशी जी केन्द्र सरकार के कई संगठनों एवं संस्थाओं के सदस्य रहे हैं तथा हिन्दी सलाहकार समितियों में भी भागीदारी करते रहे हैं।

⊙ **सम्मान :** 'छाया मत छूना मत', 'अरण्य', 'मनुष्य चिन्ह', श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ तथा 'गंधर्व गाथा' कृतियों पर उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान के पुरस्कार, हिन्दी अकादमी तथा राजभाषा विभाग बिहार सरकार द्वारा कृतियाँ पुरस्कृत, पत्रकारिता के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (मानव संसाधन मंत्रालय भारत सरकार) द्वारा स्व.गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार से सम्मानित। साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि।

⊙ **रचनाओं के अनुवाद :** आपकी कई कृतियों का देश विदेश की कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

⊙ **अन्य क्षेत्र :** दूरदर्शन तथा आकाशवाणी पर भी आपकी कृतियों का प्रसारण हुआ है। आपकी कई टेलि फ़िल्में तथा धारावाहिक लोकप्रिय हुए हैं और सराहे गये हैं।

⊙ **विदेश यात्रा :** अमेरिका, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, जर्मन, फ्रांस, नेपाल, ब्रिटेन, मॉरीशस, त्रिनिदाद, थाईलैंड, सूरिनाम, नीदरलैण्ड, जापान, कोरिया आदि।

⊙ **सम्प्रति :** स्वतंत्र लेखक तथा पत्रकारिता।

मैंने अपने आसपास के वातावरण को अनदेखा नहीं किया...

हिमांशु जोशी

''एक गरीब गाँव-पर्वतीय ! एक गरीब घर-टूटा-फूटा !

घर के भीतर अँधियारे में एक रुग्ण व्यक्ति लेटा है। पास ही जवान बेटी खड़ी है - हताश मुद्रा में।

''मधुलि, डाकिया आज भी नहीं आया, बेटा ?''

''आया था बाबा, पर चला गया।''

''क्या हमारी डाक नहीं लाया ?''

''नहीं । मैंने पूछा तो कहता था...।''

''क्या कहता था, बेटा...? एक गहरी साँस और फिर टूटा-टू-सा भर्राया स्वर प्रस्फुटित होता है, ''इ...त्ता पुराना छय रोग... अब कित्ती और परतीक्षा करूँ...अस्पताल में जब अब तक जगै नहीं मिली बेटे, तो आगे क्या मिलेगी... ?''

''ऐसा नहीं, बाबा...जगै ज़रूर मिलेगी...परमेसर के राज में देर है, अंधेर नहीं... वह भी कहता था...।''

''अरे, उसके कहे क्या होता है ? जब ऊपर वाले कहे तब न...।''

और हाँ, अंत में जब एक दिन ऊपर वाले ने कही और भवाली सेनिटोरियम में स्थान मिलने की सूचना आई, तब तक उसे मरे पूरा एक साल बीत चुका था।''

यह मेरी पहली कहानी 'बुझे दीप' का अंतिम भाग है जो एक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

वर्ष था - 1954 !

तब से लिखने का जो क्रम आरम्भ हुआ, वह आगे चलता ही रहा निरंतर। यों यह मेरी लिखी पहली कहानी नहीं थी। जब नैनीताल में ग्यारहवीं का छात्र था, तभी कहानी की ओर सहसा आकर्षण बढ़ा। इससे पहले कविताओं के प्रति भी विशेष झुकाव रहा। झुकाव क्या, एक तरह का पागलपन ही कहें तो अधिक न्यायसंगत होगा। खेलते, घूमते, पढ़ते, खाते, सोते - हर समय कविता ही कविता। कक्षा में अध्यापक पढ़ा रहे होते और मैं अपनी अगली सीट छोड़कर सबसे पीछे बैठा तुकबंदियों में खोया रहता।

अर्थशास्त्र के अध्यापक जमील अहमद एक दिन कक्षा में बोले, ''जब मैं मालथुस की थ्यौरी समझा रहा था, तब तुम सब स्टुडेंट्स मेरा मुँह देख रहे थे...।'' वह अब मेरी ओर अँगुली से संकेत करते हैं, ''देखिए, एक यही स्टुडेंट था, जिसने गरदन नहीं उठाई...चुपचाप नोट्स लेता रहा...।''

ज़मील साहब के इस कथन पर मेरे पास बैठे दो-एक छात्र हँस पड़े तो ज़मील साहब ताव खा गए। बेअदबी के अभियोग में उन्होंने उन्हें अपनी-अपनी सीट पर खड़ा कर दिया।

पूरे चार-पाँच साल तक कविता का यह पागलपन बुरी तरह सवार रहा, किन्तु तभी न जाने क्या हुआ, मैं दिन-दिन-भर बैठा लंबी-लंबी कहानियाँ लिखने लगा।

एक बार लिखता, फिर सुधार करता। फिर दुबारा, तिबारा - जब तक संतोष न होता, लिखता चला जाता। दो-तीन बार लिखने की यह आदत जो तब पड़ी थी, आज भी उसी तरह चल रही है। एक भी शब्द व्यर्थ का रह जाए, यह मेरा मन स्वीकार नहीं करता। इसलिए सुधार की सतत प्रक्रिया चलती रहती है। हाँ, कहानियाँ तब चुपचाप लिख तो लेता, लेकिन समस्या थी उन्हें सुनाने की। नैनीताल से कोई पत्रिका तो प्रकाशित होती नहीं थी, जिसमें छपने भेजता। अतः लिखकर, सहेजकर अपने पास रख लेता, किसी धैर्यवान, साहित्य-पारखी श्रोता की प्रतीक्षा में।

कॉलेज में तो नहीं, हाँ, छुट्टियों में अपने घर टनकपुर आने पर अवश्य एक-दो 'साहित्य-मर्मज्ञ' टकरा पड़ते। तब बड़े धैर्य के साथ उन्हें सुनाने का लोभ संवरण न कर पाता। अंत में कहानी जब समाप्त होती तो मैं उनके चेहरे की ओर परखने के उद्देश्य से देखता - अपनी तथाकथित पारखी दृष्टि से।

सचमुच तब कितनी प्रसन्नता होती जब उनकी आकृति में एक प्रकार का संतोष का भाव दिखता। तुष्टि का। मुझे लगता, मेरा प्रयास निरर्थक नहीं रहा।

यों हर लेखक के भीतर कहीं निष्पक्ष आलोचक भी रहता है, जो बिना किसी पक्षपात के रचना के बारे में सब सच-सच बतला देता है। मुझे लगता है, इसे लंबे सफर में यही मेरा अभिन्न मित्र, अभिन्न समालोचक, आत्मीय पथ-प्रदर्शक रहा है, जिसने कभी मुझे छला नहीं। जो भी कहा, सदैव सच ही कहा।

पहली कहानी जब छपी तो मेरी प्रसन्नता का पारावार न था। लगता था, मुझे अपनी मंज़िल तक पहुँचने का मार्ग कहीं मिल रहा है। कुछ परिचितों ने उसे पसंद भी किया। सराहना के दो बोल भी उपहार में बोल दिए। किन्तु मुझे आघात लगा उस दिन जब कई महीने बाद मैं एक बार अपने घर गया-टनकपुर। शर्माजी थे एक। बनारस विश्वविद्यालय के छात्र रह चुके थे। पढ़े-लिखे सज्जन। परंतु उदर-पूर्ति के लिए मोटर पार्ट्स का धंधा चलाते थे। उनसे मिला तो सहसा उन्होंने कहानी का ज़िक्र छेड़ दिया। बोले, ''आपकी कहानी पढ़कर मेरी रुग्ण पत्नी ने जीने की आस छोड़ दी है। वह कहती है कि मेरे साथ सब घटित होगा जो उस कहानी के नायक के साथ हुआ था।''

मैंने तो अब तक यही सुना-गुना था कि साहित्य जीने की प्रेरणा देता है। मेरी कहानी किसी को मरने के लिए भी प्रेरित कर सकती है, यह सोचना ही मेरे लिए कम आश्चर्य की बात न थी। मैंने उन्हें विस्तार से समझाया कि कहानी इसीलिए तो कहानी कहलाती है कि वह सच नहीं होती। इसीलिए तो उसे सच मानना भारी भ्रम होगा। भूल भी।

प्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र कुमार जी के साथ हिमांशु जोशी।

मैं कहने को तो बहुत कुछ कह गया, भ्रम-निवारण के लिए, परंतु मेरा मन कहीं बार-बार मुझे इसके लिए कचोटता रहा कि कहानी कहानी ही नहीं, कहीं कुछ सच भी होती है - शीशे की तरह सच। इसलिए वह सच न होते हुए भी सच से अधिक प्रभावशाली होती है। उसके आईन में व्यक्ति या समाज का ही नहीं, पूरे युग का प्रतिबिंब भी देखा जा सकता है, यदि कहानी सही अर्थों में कहानी हो तो।

उनकी पत्नी पर मेरी बातों का कितना प्रभाव पड़ा, क्या हुआ उनका, इसका तो मुझे पता न चला। हाँ, मेरे मन में कहीं यह बात अवश्य घर कर गई कि भविष्य में मुझे ऐसा लिखने के प्रति सचेत रहना चाहिए, जो व्यक्ति को घोर निराशा के अंधकार में धकेल दिए जाने के लिए विवश करे। मृत्यु भी एक सत्य है, परंतु यह जीवन से बड़ा सत्य नहीं।

कहानी के कथानकों के लिए मुझे कभी भटकने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। सहज भाव से कथानक पास आकर मुझे जगाते रहे, कुछ लिखने के लिए; गुदगुदाने ही नहीं, झकझोरने के लिए भी। यही विवशता कहानी के रूप में अनायास कुछ गढ़ने के लिए प्रेरित करती रही।

साहित्य-सृजन का संबंध सायास से कम, अनायास से अधिक होता है। अनायास जो लिखा जाता है, वही कहीं मन के अधिक निकट होता है। बिना अपने मन के सामीप्य के कोई भी कृति कभी किसी दूसरे के मन को प्रभावित नहीं कर पाती-सच्चे अर्थों में। काली कुमाऊँ का हमारा क्षेत्र क्रांतिकारियों का इलाका माना जाता था। इसलिए अंग्रेज़ों के शासनकाल में उसे उपेक्षाओं का शिकार होना पड़ा। विकास के कोई भी उल्लेखनीय कार्य अंग्रेज़ों ने वहाँ होने नहीं दिए, जिसका परिणाम यह रहा कि वहाँ स्वावलंबन की प्रवृत्ति अधिक पनपी। स्वाधीनता-प्राप्ति के कुछ ही समय पश्चात वहाँ के निवासियों ने अपने श्रमदान से लगभग चौदह मील लंबा मोटर-मार्ग तैयार कर दिया। पहाड़ी प्रदेशों में मार्ग- निर्माण का कार्य कितना कठिन होता है, उसकी कल्पना भी आसान नहीं।

सरकार अब अपनी थी। अतः कहा जाता है कि उसके निर्माण के लिए पुरस्कार के रूप में एक बहुत बड़ी राशि वहां के लोगों को अपने कल्याण-कार्यों के लिए प्रदान की गई। बाद में कुछ 'गांधीवादी' तथाकथित नेताओं ने उस राशि का रचनात्मक कार्यों के नाम पर जो 'सदुपयोग' किया उससे मेरा मन अर्से तक आहत रहा। उससे त्राण तभी मिल पाया, जब मैंने 'आदमी ज़माने का' कहानी के माध्यम से उसे व्यक्त कर, अपने को उस संताप से मुक्त किया।

इसके प्रकाशन के पश्चात अपने ही कुछ लोगों के कोप का शिकार भी बनना पड़ा मुझे, परंतु मुझ पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मैंने न वह कहानी किसी को प्रसन्न करने के लिए लिखी थी, न अप्रसन्न। मन का भार हलका करने के लिए मेरे पास इससे सच्चा, इससे सीधा और माध्यम भी क्या था !

इसी तरह 'कोई एक मसीहा', 'फासला' आदि अनेक कहानियों ने आकार लिया।

कभी-कभी कोई घटना सहसा मन के किसी कोने में गड़ जाती है और टूटे काँटे की अनी की तरह निरंतर कसकती रहती है। यही कसक कभी किसी बड़ी परेशानी का कारण भी बन जाती है - निरंतर बेचैनी का। और वही कालांतर में शब्दों के आकार में व्यक्त होती है- अपनी एक अलग पहचान के साथ। वस्तुतः जितना हमारे चेतन मन में होता है, उससे कहीं अधिक होता है अवचेतन में - स्मृतियों का, अनुभवों का, अनुभूतियों का एक अक्षय भंडार। जब हम तन्मय होकर, डूबकर लिखने लगते हैं, तो ताने-बाने की तरह वे तंतु परस्पर जुड़ते चले जाते हैं और एक नई शक्ल में हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। अपने लिखे हुए को कई बार बाद में हम स्वयं पढ़ते हैं तो अचरज हुए बिना नहीं रहता - अरे, यह सब मुझसे कैसे लिखा गया ? मैंने तो ऐसा सोचा नहीं था। पर हाँ, वास्तव में ऐसा ही कुछ लिखने का मन में था तो सही। जिस रचना में अनुभूतियों की गहराई जितनी अधिक होगी, जितनी अधिक प्रामाणिक अनुभूतियाँ, वह पाठक को उतनी ही गहराई तक छुएँगी।

जो जिया जाता है, वह कहीं लेखन का हिस्सा भी बनता चला जाता है। संस्कार, संवेदनाएँ, सबका अपना-अपना योगदान रहता है। मेरा जन्म उस परिवार में हुआ, जो स्वाधीनता-संग्राम से भी जुड़ा रहा। इसलिए 'सु-राज', 'जलते हुए डैने' आदि रचनाओं में वह रंग भी कहीं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष झलकता दिखता है।

आपातकाल में हुए अत्याचारों से आक्रांत होकर जब 'जलते हुए डैने' लिख रहा था तो अवचेतन में कहीं हमारे क्षेत्र के प्रखर स्वाधीनता सेनानी शहीद विक्टर मोहन जोशी का चित्र भी रहा होगा, जिससे सेमुअल चेतराम नामक चरित्र का आविर्भाव हुआ। अंग्रेज़ों द्वारा बरसाए गए डंडों से जिनका सिर फट गया था और जिन्होंने 'वंदेमातरम' का उच्चारण करते हुए मृत्यु का वरण किया था। अतीत की अनेक अनुभूतियाँ इसी तरह 'सु-राज' में भी प्रस्फुटित हुईं।

यह आवश्यक नहीं कि एक अनुभव, एक अनुभूति का एक ही रचना में समावेश हो। कई बार लिखते-लिखते, पता नहीं कहाँ-कहाँ के अनुभव सहज भाव से जुड़ते हुए एकाकार होते चले जाते हैं और नए रूप, नए रंग के साथ अपनी पहचान बनाने में सफल होते हैं। 'अंततः' कहानी के साथ कुछ ऐसा ही हुआ। एक निश्छल, निर्धन किशोर की आकांक्षाएँ कैसे जन्म लेती हैं, कैसे पल्लवित होती हैं और अंत में कैसे मुरझा जाती हैं ?

जो भले हैं, भोले हैं - अनादि काल से किस तरह वे शोषण के शिकार बन रहे हैं, इसकी भी एक झलक है। दुनिया का सबसे बड़ा व्यंग्य सबसे बड़ी वेदना का प्रतिरूप होगा। बिरजू भी इन्हीं विडंबनाओं का शिकार है। हास्य के मर्म में छिपी उसकी व्यथा एक प्रश्नचिह्न बनकर प्रकट हो आती है।

सरलता, सहजता, स्वाभाविकता - किसी भी रचना के सबसे बड़े गुण होते हैं। जीवन का यथार्थ जितने सहज शब्दों में अभिव्यक्त होगा, उतना ही मानव-मन को प्रभावित करेगा। कबीर का यह गुण किसी भी सफल साहित्य का प्रथम लक्षण है। कथा के क्षेत्र में इस दिशा में चेखव का लेखन मुझे एक उदाहरण लगता है। चाहे वक 'कुत्ते वाली महिला' हो या वह दुखिया जो अपनी व्यथा अपने घोड़े को सुनाती है। ईसप या पौराणिक कथाओं या जातक कथाओं के बाद कई लेखकों में कहानी कहने की यह कला आसानी से देखी जा सकती है। इस 'सहज शैली' का भी किसी रूप में मैं कायल रहा हूँ। 'स्वभाव', 'अभाव', 'किनारे के लोग', 'रथचक्र' - अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें कहीं कोई चमत्कार नहीं है, न कोई चौंकाने वाला तत्त्व ही। सरलता से एक बात आरम्भ होकर उसी सरलता के साथ समाप्त हो जाती है। कहीं कोई बनावट या बुनावट नहीं।

कलाहीनता भी अपने में कला हो सकती है। मैं नहीं जानता इस दृष्टि से मुझे कितनी सफलता मिली है। हाँ, यह तो किसी कलाकार की कला की अंतिम परिणति हो सकती है। इसके लिए अभी और न जाने कितनी मंज़िलें तय करनी होंगी। लेखन का सफर तो अंतहीन होता है और जहाँ तक मैं अपने बारे में सोचता हूँ - अभी यात्रा आरम्भ ही कहाँ हुई है। 'मनुष्य-चिह्न' में भी कुछ ऐसे ही प्रश्न हैं। 'बरस बीत गया', 'दंशित', 'छोटी इ', 'रथचक्र', को भी इस क्रम में स्थान दिया जा सकता है।

कहानी आंदोलनों के कई दौर आए। उन्होंने कुछ-कुछ प्रभावित भी किया। परंतु यह प्रभाव सदैव सतही रहा - झोंका आया और चला गया - क्योंकि उन आंदोलनों का संबंध किन्हीं सतत, सनातन मूल्यों से नहीं, बल्कि कहा जा सकता है साहित्यिकता से अधिक सतही व्यावसायिकता से रहा। हाँ, खींच-खींचकर कुछ लोगों का कद अवश्य बढ़गया, परंतु उनका साहित्य वहीं पर स्थिर रहा जहाँ था। बल्कि सच कहा जाए तो इन आंदोलनों ने जहाँ उनका बाह्य आकार विस्तृत किया, वहाँ आंतरिक संकुचित। जिसका परिणाम यह रहा कि बाहर से लंबे-चौड़े दिखने के बावजूद भीतर से वे कहीं और बौने हो गए।

साहित्य-साधना के लिए सच्चाई चाहिए, मूलभूत ईमानदारी भी। मानवीय संवदेनाएँ उन्हें गहराई ही प्रदान नहीं करतीं, एक ऊँचाई और विस्तृत विस्तार भी। व्यावसायिकता की इस दौड़ ने, लगता है, साहित्यकार का दायरा सीमित कर दिया है। बहुत-बहुत सीमित।

साहित्य का उद्भव आंदोलनों से नहीं, आंतरिक उद्वेगों से होता है। उसके लिए बाह्य प्रभाव से अधिक भीतरी चिंतन चाहिए - आत्म मंथन। आयातित संस्कृति के युग में बाह्य साहित्यिक आंदोलनों के आत्मस्वीकार ने निःसंदेह अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है। वास्तव में काल के प्रवाह में वही टिक सकता है जिसकी जड़े सुदृढ़ हों, बाहर की अपेक्षा भीतर गहरी हों।

यों समय के साथ-साथ शैली भी बदलती है, भाषा के संस्कार भी। किन्तु यह परिवर्तन सहज होता है - सायास नहीं। अनायास। आज के औद्योगिक युग में, जहाँ सर्वत्र व्यावसायिकता का बोलबाला है, मानवीय संवदेनाएँ भोथरी हो गई हैं। उन्हें संवेदनशील बनाने के लिए साधारण उपक्रम की नहीं, विद्युत-प्रवाह की, जिन्हें इलेक्ट्रिक शॉक भी कह सकते हैं, आवश्यकता है। शायद इसी से स्वतः 'फंतासी' का आविर्भाव हुआ हो। जब हम गहरे आघात में होते हैं या अचरज में - शब्द की सामर्थ्य जैसे चुक जाती है और कुल मिलाकर एक चीख की शक्ल में हमारी अभिव्यक्ति होती है। कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति साहित्य-सृजन में भी होती है।

मेरी कहानियों, 'अक्षांश' या 'जो घटित हुआ' आदि में कुछ ऐसा ही लगता है मुझे। वे कितनी सफल रहीं, कितनी असफल, इसका निर्णय तो प्रबुद्ध पाठकों पर है। हाँ, मेरा विनम्र प्रयास अवश्य रहा, बिना किसी प्रवाह के। मालूम नहीं वे कितना प्रभाव छोड़ पाई।

पर्वतीय क्षेत्र में मेरा जन्म हुआ - हिमालय के सुदूर इलाके में। जहाँ प्रकृति-प्रदत्त सम्पन्नता थी तो व्यवस्था द्वारा दी गई आर्थिक विपन्नता भी। सुख से अधिक दुःख, एक सतत संघर्ष। दो जून रोटी जो जुटा लेते थे, उनसे कहीं अधिक संख्या में थे वे लोग, जिनके लिए दो टुकड़े रोटी जुटा पाना एक विकट समस्या थी। मैंने उन किसानों को भी निकट से देखा, जो दो नाली (पहाड़ी पैमाना) अनाज बीज के रूप में बोते थे और महीनों तक मेहनत करने के पश्चात इतना भी फसल के रूप में बटोर पाने में सफल न होते थे। श्रम की अपनी महत्ता होती है, परंतु यहाँ तो श्रम ही श्रम था - मा फलेषु कदाचन।

पुरुषों से अधिक, कहीं अधिक दायित्व था घर की महिलाओं पर। सुबह मुँह अँधेरे उठना । दूर झरने या बावड़ी से बर्फ या पाले पर नंगे पाँव चलकर पानी भरकर लाना। दूध दुहना। सुबह रूखा-सूखा कुछ तैयार करना। जलाने के लिए लकड़ी काटने या घास लाने दूर जंगल जाना। वहाँ से आकर चूल्हा-चौका करना। दिन में फिर खेतों का काम। अँधेरे में शाम को फिर घर लौटना। ढोर-डंगरों की सेवा। फिर रात का चूल्हा। इस बीच ज़रूरत पड़ने पर चक्की पीसना, चावल कूटना आदि-आदि।

इस आदि-आदि की दिनचर्या में पिसती पर्वतीय नारी की यंत्रणा।

मेरी आंचलिक पृष्ठभूमि पर लिखी कहानियों में यह असह्य-अमानवीय वेदना भी कहीं-कहीं व्यक्त हुई है। मैंने अपने शैशव में, अपने चारों ओर ऐसे अनेक पात्रों को जूझते देखा है। इतनी अंतहीन यंत्रणाओं के पश्चात् भी पति की प्रतारणा या सास की उपेक्षा। उस पर भी कई बार भरपेट भोजन नहीं, न तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र ही। छोटे-छोटे भूखे बच्चों का सतत रुदन।

करुणा की यह प्रतिमूर्ति! दर्द की यह तस्वीर! आज भी जब कभी मेरे विचारों में उभरकर प्रतिबिंबित होती है तो अनायास काँप उठता हूँ। गुड़ की एक नन्हीं-सी गीली डली ही जिनके लिए दुर्लभ मिष्ठान का प्रतीक हो। भरपेट महुए की रूखी काली रोटी ही, नवरस भोजन का पर्याय। उनके दुःखों का कहाँ पारावार!

मुझे याद है बचपन की वह घटना। अपने घर के आँगन से मैं गुज़र रहा था। मेरी इजा (माँ) के पास हमारे दर्ज़ी की पत्नी, यानी किसना की इजा, बैठी बातें कर रही थी। उसी के पास थी हमारे कस्बे के पास ही माँदरे गाँव में रहने वाली वृद्धा लोहारिन।

''हमारे किसना ने आज भात नहीं खाया।'' किसना की इजा कह रही थी और जाते-जाते मैं सुन रहा था।

''क्या कहा ?'' इस बार लोहारिन का अचरज-भरा स्वर था, ''क्या सचमुच किसना ने भात नहीं खाया ?'' उसका झुर्रियों से घिरा पीला मुँह खुल आया था। वह विस्मय-भरी आँखों से देख रही थी - किसना की इजा की ओर।

ऐसा भी कहीं हो सकता है कि कोई भात जैसी चीज़ न खाए! वृद्धा को सच नहीं लग रहा था।

इससे बड़ा अभाव और क्या होता है ?

मेरे बाल-मन में ऐसे कितने ही अतीत के चित्र आज भी जीवित हैं, जो मुझे झकझोरते रहते हैं। उनका दुःख कब मेरा अपना बन गया, कब मैं उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया, मुझे नहीं मालूम।

आज भी वे मेरे वैसे ही आत्मीय हैं। आज भी वे मेरा हाथ पकड़ मुझसे लिखवाते हैं। अपने अंतर के भावों को मेरे पास आकर चुपचाप अनायास व्यक्त कर जाते हैं। 'तरपन' कहानी हो या 'अंतराल', मैंने इन्हें इतने निकट से महसूस किया है कि लिखते-लिखते वे मात्र पात्र नहीं, जीवित प्रतिवेशी लगे हैं, या आत्मीय स्वजन। मुझे लगता रहा है जैसे मैं अपने ही बारे में लिखता रहा हूँ।

मेरा जीवन अनेक संघर्षो से गुज़रा है। उपेक्षाएँ भी कम नहीं मिलीं। शायद इन सम्पूर्ण स्थितियों-परिस्थितियों ने मुझे वह दृष्टि दी, जिससे मैं समाज के शोषितों-दलितों-उपेक्षितों के दुःख-दर्द को किंचित् आत्मसात कर सका। जब मैं उनकी व्यथा को वाणी देने का प्रयास करता हूँ तो मुझे लगता है जैसे मैं अपने ही दुःख दर्द का इतिहास लिख रहा हूँ।

जोस्यूड़ा के गाँव में पैदा हुआ। खेतीखान तथा टनकपुर के कस्बों में शैशव बीता। नैनीताल नगर में पढ़ा। जीवन का अधिकांश भाग दिल्ली जैसे महानगर में आपाधापी में व्यतीत हुआ। इसलिए मात्र पर्वतीय जीवन पर ही नहीं, मैंने कस्बाई जीवन पर, नगरों, महानगरों के अमानवीय, अराजक वातावरण पर भी लिखने का प्रयास किया है। 'किसी एक शहर में' तथा अन्य कहानियों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है।

मैंने अपने आसपास के वातावरण को अनदेखा नहीं किया। अपने अंतर्द्वंद्वों को भी। जब जैसा बन पड़ा, लिखा। लगता है, शैली, शब्द, सब भावों के साथ-साथ, भावों के पीछे-पीछे स्वतः अनुगमन करते रहते हैं। जब कहने के लिए कुछ होता है, तो वह किसी सीमित शब्द या शैली का मोहताज नहीं होता। सद्प्रेरणा से जो लिखा जाता है, वह निरर्थक जाए, ऐसा हो ही नहीं सकता।

यह मेरी विनम्र मान्यता है। मेरी विनीत धारणा। शेष साहित्य के बड़े-बड़े शब्दों से, बड़े-बड़े बिंब विधानों से मुझे भय-सा लगता रहा है। सच पूछिए तो शैली, प्रक्रिया जैसे शब्द मुझे बोझिल लगते हैं। इन शब्दों के क्या-क्या विस्तार हैं ? इनका विवेचन तो प्राध्यापक-पंडित ही कर सकते हैं। लेखक का काम लिखना है, जिस तरह हवा का काम अनायास प्रवाहित होना-होते रहना।

पाषाण-गाथा

हिमांशु जोशी

नदी पार करने के पश्चात हलकी-सी चढ़ाई थी और उसके बाद यह दूसरी दुनिया। घने वनों के बीच बिछी हरी चादरें-ओर-छोर का कहीं पता ही न चल पाता।

अभी गरमी आरम्भ हुई थी, फिर भी गेहूँ के बित्ते-भर ऊँचे पौधे हवा में लहलहा रहे थे। किसी ने बतलाया - ये नई किस्म के पौधे हैं, इससे ऊँचे नहीं जाते। जितना लम्बा डंठल है, उतनी ही लंबी बाली भी लगती है।

उस पार आसमान की ओर उभरी एक नीली धुँधली रेखा साफ दिखलाई दे रही थी - पर्वतों की माला।

सामने कतार में झोंपड़ीनुमा कच्चे घर थे - घास-फूस के। अब याद नहीं, उनकी छतें टीन की चादरों से ढँकी थीं या घास-पयाल से। इतने लम्बे वक्फे में तो बहुत-सी बातें यों ही धुँधला जाती हैं।

हाँ, जब हम वहाँ पहुँचे तो अजीब-सा लग रहा था। एक ऊँचा-सा काला शेड दाहिनी तरफ खड़ा था- वर्कशॉप जैसा। काले कपड़े पहने कुछ मजदूर काम पर जुटे थे। कहीं भट्ठी में गरम लोहा तप रहा था। घन की भरपूर चोट से तपते लोहे को निश्चित आकार दिया जा रहा था। कुछ मजदूर लोहे के भारी शहतीर को उठाने का असफल प्रयास कर रहे थे। वहाँ शोरगुल कुछ अधिक था।

धुएँ के साथ-साथ धूल थी। उड़ती हुई रेत इतनी अधिक कि देर तक ठहर पाना कठिन लग रहा था।

तभी सामने अधेड़ उम्र का एक आदमी आया। उसकी घनी मूँछे डरावनी लग रही थीं। भौंह के काले बाल गुच्छे की तरह गुँथे हुए।

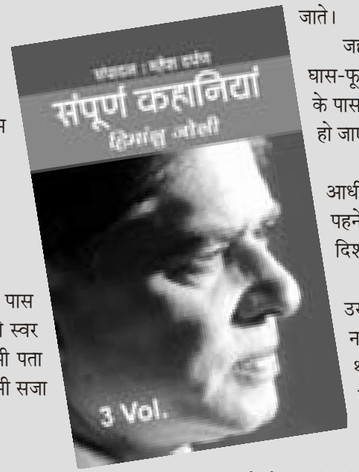

''फारम का काम आने वाला अउजार हम अपनेई ठीक कै लेइत हैं।'' उसने कहा।

''कब से हैं यहाँ ?'' मैंने पूछा।

''तिन साल येहि चैत मा पूरा होई जाई।''

''रहने वाले कहाँ के हैं ?''

''सुलतानपुर कै।''

बगल में खड़े अधिकारी ने मेरे कान के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाते हुए कहा - इतने धीमे स्वर में कि सामने खड़ा व्यक्ति न सुन सके। फिर भी पता नहीं, किस तरह वह भाँप गया। बोला, ''हमहु भी सजा आफता अहि - मुजरिम...''

''किस अपराध में ?''

''दफा तीन सौ दोई - उमर कइद।''

मुझे आघात-सा लगा।

''जुर्म क्या ?''

''क-तल।'' उसने बड़े सहज भाव से कहा।

पर मेरा मुँह तनिक खुल-सा आया।

''यहाँ। सभी कैदी लगभग ऐसे ही हैं।'' अधिकारी ने बतलाया, ''अधिकतर दफा तीन सौ दो के हैं - आजन्म कारावास वाले।''

आसपास खड़े अन्य व्यक्तियों को भी उन्होंने इशारे से पास बुलाया। हत्या ! मारपीट ! डकैती !

सुबह तड़के जब यहाँ के लिए रवाना हुए, तब कुछ-कुछ सर्दी थी। किन्तु इस समय दोपहर की धूप कहीं चुभ-सी रही थी।

समीप ही पेड़ के नीचे धूल से ढँकी, काठ की टूटी हुई दो-तीन पुरानी कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। रूमाल से उन्हें साफ कर किसी तरह बैठ गए।

साथ आए सज्जन चाय की व्यवस्था करने चले गए।

कुछ देर पश्चात पुलिस अधिकारी के पीछे-पीछे एक नाटा-सा व्यक्ति केतली और लोहे के गिलास थामें, लंबे-लंबे डग भरता चला आ रहा था। उसकी सामने वाली जेब कुछ उभरी हुई थी - बिस्कुट के छोटे पैकेट का ऊपरी हिस्सा साफ दिखलाई दे रहा था।

चाय लाने वाला भी कोई कैदी था, बनाने वाला भी।

पता नहीं चाय क्यों इतनी बेस्वाद लगी। एक अजीब-सी गंध आ रही थी। पानी ही ऐसा होगा, मैंने मान लिया था।

इस खुली जेल के बारे में कुछ विशेष जानकारी हासिल करने के लिए मैं यहाँ आया था। इन विकट अपराधियों को, इस तरह मुक्त भाव से विचरण करते देख, मुझे अजीब-सा लग रहा था- एक विचित्र-सी दहशत। ये भागते नहीं होंगे ? आपस में ही कभी फिर कत्ल!

''अभी आपको कैदियों के फार्म की ओर भी जाना है। गेहूँ की यह फसल इन्हीं कैदियों ने उगाई है। यहाँ पहले बियाबान जंगल था। इन्हीं लोगों ने उसे साफ किया था।'' खाकी कपड़े पहने एक व्यक्ति पास आकर बोला।

कुछ क्षण विश्राम करने के पश्चात हम फिर आगे बढ़े-खेतों की तरफ।

यहाँ परती धरती तोड़ी जा रही थी। दो-तीन ट्रेक्टर धू-धू करते हुए ढेर सारी धूल एक साथ उड़ा रहे थे। ट्रेक्टरों के पीछे कुछ लोग नंगे पाँव दौड़-से र हे थे - जो भी पत्थर सामने दीखता, उठाकर एक ओर जमा करते चले जाते।

जहाँ ट्रेक्टर चल चुके होते, वहाँ टोलियों में बिखरे लोग घास-फूस इकट्ठी करके जला रहे थे। जगह-जगह घास की ढेरियों के पास धुआँ उठ रहा था। बुआई के लिए खेत यथाशीघ्र समतल हो जाएँ, सब इसी प्रयत्न में जुटे दीख रहे थे।

सिर पर मोटे खद्दर की मैली-सी टोपी, उसी कपड़े की आधी बाँह की बंडी, घुटने तक का वैसा ही पाजामानुमा कच्छा पहने कितने ही लोग यंत्रवत काम में जुटे थे। अलग-अलग दिशाओं में अनेक टोलियाँ फैली थीं।

घंटों तक पैदल इधर-उधर चलने के पश्चात अंत में हम उस सिरे पर पहुँचे, जहाँ मजदूरों ने अपने ही प्रत्यनों से एक नाले का बहाव रोककर, छोटी-सी कृत्रिम झील बना ली थी। बीच पानी में कई पेड़ आधे-आधे डूबे थे। किनारे की लाल कच्ची मिट्टी अभी तक भी गीली थी, जैसे अभी-अभी झील का निर्माण कार्य समाप्त हुआ हो!

कुछ और आगे बढ़कर अँधेरे जंगल के सिरे पर पहुँचे तो वहाँ गीली ज़मीन पर शेर के पंजों के जैसे निशान दिखलाई दिए।

''यहीं पर कुछ दिन पहले शेर ने एक कैदी को मार डाला था...'' पुलिस अधिकारी ने और आगे न बढ़ने के लिए चेतावनी-सी देते हुए कहा।

जब हम पीछे मुड़ने लगे तो सूरज फिसलता हुआ क्षितिज के समीप पहुँच चुका था। फार्म की सीमा-रेखा के निकट, एक ऊँचे वृक्ष की शाखाओं पर, हवा में झूलती एक झोंपड़ी-सी अटकी थी - इतनी छोटी कि एक व्यक्ति पाँव फैलाकर सो भी न पाए।

''यह किसलिए...?''

''रात में पहरेदारी के लिए यह मचान बना रखा है कि कहीं कोई कैदी निकल न भागे।''

''पहरेदारी कौन करता है ?''

''इन्हीं कैदियों में से...''

तभी सामने से गुजरते किसी कैदी को आवाज़ लगाई तो वह सहमता हुआ खड़ा हो गया।

''आजकल यही पहरेदारी कर रहा है।''

''सारी रात इस जंगल में अकेले बैठे डर नहीं लगता ?''

वह बोला कुछ नहीं - बस, यों ही देखता रहा।

''कभी घर जाने को मन करता है ?''

उसने मात्र सिर हिला दिया।

''अब कितने बरस बाकी हैं ?''

''...''

''यहाँ। की ज़िन्दगी बहुत कष्टकारक है न ?''

इस बार भी वह काठ-सा देखता रहा।

उसकी उदास आकृति पर राख-सी पुती थी। सूनी आँखें यंत्रवत खुलीं। घास-सी उगी दाढ़ी के बाल बड़े बेढंगे लग रहे थे।

''कोई कैदी इस खुली जेल से कभी भागता तो नहीं ?'' मैं पुलिस अधिकारी से पूछता हूँ - चलते-चलते।

''ऐसे वाकये कम ही होते हैं ...''

सूरज ढलने के साथ-साथ सभी कैदी मजदूर डेरे की दिशा में लौट रहे थे- हारे-थके-से। प्रायः सबके सिरों पर जलाने के लिए एकत्र की गई लंबी-सूखी लकड़ियों का छोटा-सा गट्ठर था। सब बेजान-से लगे रहे थे - मशीन की तरह।

पूर्वी क्षेत्र में एक छोटा-सा हिस्सा अभी देखना बाकी था। जल्दी-जल्दी उसे देखकर लौटे तो आसमान पर ढकना-सा लग गया था, काले कंबल का, एकदम घुप्प अँधियारा।

अंग्रेज़ी के 'एल' के आकर में झोपड़ियों के आगे खुला-सा बंजर मैदान था- छोटा-सा, जिसमें बीसियों चूल्हे अलग-अलग जल रहे थे। अल्युमिनियम की पिचकी हुई काली पतीलियों पर चावल जैसा कुछ बुद्बुद् करता हुआ उबल रहा था। दिन-भर के श्रम से थके सभी कैदी रात का भोजन बनाने में जुटे थे।

''राशन सरकार देती है ?''

''जी हाँ।''

''पेट भर जाता है ?''

''हाँ''।

एक जवान कैदी की ओर मुड़ता है, ''घर से मिलने कभी कोई आता है ?'' ''दूर के रिश्ते की एक बुआ थी। साल-छह महीने में कभी खाने-पीने का कुछ सामान बेचारी डाल जाती थी। पर इस वर्ष माघ माह में वह मर गई...'' उसका मासूम चेहरा एकाएक उदास हो गया था।

''घर में और कोई नहीं...?''

''न्नाँ....''

उसके चेहरे पर अजीब-सी व्यथा, अजीब-सी विवशता थी। उसे देखकर लगता नहीं कि इससे इतना बड़ा अपराध हुआ होगा, जिसकी ऐसी कठिन सजा भुगत रहा है।

कैदियों की झोंपड़ियाँ भीतर से बैरकनुमा थीं- खुली हुई। नीचे मिट्टी के कच्चे फर्श पर सूखा पयाल बिछा था। उसके ऊपर कोई फटा कंबल या चटाई मात्र। किसी-किसी कैदी के पास छोटा-सा बदरंग बक्सा भी था। कहीं पर जंग लगे टूटे कनस्तर में पिचका हुआ पुराना ताला भी लटक रहा था - शायद घर से भेजी वस्तुएँ सुरक्षित रखने के लिए।

मैं सोचता रहा-वस्तुएँ भी क्या होंगी, इन अनिकेत विस्थापितों के पास! तन के कपड़े, फटे कंबल, चावल, आटा, बीड़ी, गुड़! इनके अलावा और क्या ?''आँगन के दाहिनी तरफ, एक कोने में मूर्ति का जैसा ढाँचा खड़ा था।

''यह मूर्ति किसी कैदी ने बनाई है क्या ?'' जिज्ञासा से मैंने पूछा।

''जी हाँ''

उसी के निकट चूल्हा जल रहा था। एक बूढ़ा कैदी गर्दन झुकाए, ऊँघता हुआ बैठा चावल उबाल रहा था। सैंवार की तरह उलझे बाल! कोटरों में धँसी निस्तेज आँखें! झुर्रियों से ढँका चेहरा!

''इसी ने बनाई है...पहले बरेली सेंट्रल जेल में था। सुना है, वहाँ भी ऐसा ही कुछ करता रहता था।'' पुलिस अधिकारी ने बतलाया।

हमें पास देखते ही, उसने उठ खड़े होने की कोशिश की। उसकी कमर धनुष की तरह झुकी थी-अधखुली आँखों में जिज्ञासा का जैसा भाव।

''बहुत अच्छी बनाई है।'' मूर्ति को मैंने हाथ से छूकर देखा-परखा। वह संकोच से और छोटा हो आया-सिकुड़कर। मेरी ओर देखता हुआ बोला, ''यों ही कुछ....अब आँखों से बहुत कम देखता हूँ। हाथों में भी जान नहीं रही।''

''यहाँ कैसे आ पड़े....?

कुछ देर वह वैसा ही देखता रहा- निर्निमेष। फिर धीरे से बुदबुदाता हुआ बोला, ''हत्या और बलात्कार का जुरम लगा है साब...!''

अब आग के और निकट होने के कारण उसका सूखे खजूर-सा चेहरा और भी पीला लग रहा था। मकड़ी के जाले जैसी अनगिनत रेखाओं से ढँकी आकृति पर एक साथ कितने ही भाव आ-जा रहे थे - पानी पर डोलते प्रतिबिंब की तरह।

''कैसे हो पड़ा यह सब...?''

''किस्मत में यही लिखा था, हुजूर। उसकी लिखी को कौन टाल सकता है?''

ठंडी हवा से उसके तन पर लटके चिथड़े ही नहीं, उसका बूढ़ा सारा शरीर सूखे पत्ते की तरह काँप रहा था। अपनी कुहनियों की बगल में दोनों नंगे हाथों को, सर्दी से बचाने के लिए, छिपाने का असफल प्रयास कर रहा था।

''कैदियों के साथ इतनी लंबी उम्र गुजारने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कोई भी आदमी 'बेसिकली' बुरा नहीं होता। आवेश के किसी क्षण में कभी-कभी कुछ का कुछ हो जाता है।'' पुलिस अधिकारी ने दार्शनिक अंदाज में कहा।

हम लोग थोड़ी देर यों ही खड़े रहे। एक-एक पल भारी लग रहा था - एकदम बोझिल। चूल्हें की धुँधली आग के उजाले में मूर्ति का ढाँचा और भी साफ दीख रहा था।

भारी मन से हम लौटने लगे। अभी कुछ ही कदम अँधेरे में रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़े तो पीछे से किसी के आने की आहट हुई।

मुड़कर देखा-वह फिर सामने खड़ा था - तनिक हाँफता हुआ।

''आपका मफलर रह गया थ। ज़मीन पर गिरा था।'' उसने मफलर मेरी

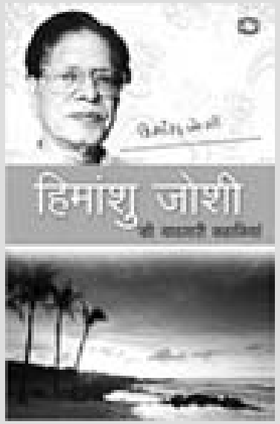

ओर बढ़ाते हुए कहा।

जब मैं मूर्ति को टटोल रहा था, तब कंधे पर से शायद नीचे गिर पड़ा हो।

''आप ही रख लीजिए।'' मैंने पता नहीं क्या सोचकर कहा। ''नहीं-नहीं।'' वह और सकुचा गया। ''अरे, भाई, हम कह रहे हैं। रख भी लीजिए। क्या फर्क पड़ता है!'' मैंने मफलर उसके हाथ में दिया, तो वह ठगा-सा खड़ा देखता रहा।

''आप और भी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ बनाएँ, हमारी शुभकामनाएँ हैं...'' मफलर अभी तक भी उसके हाथ में यों ही धरा था।

कुछ सोचता हुआ वह बोला, ''मैंने कुछ और भी मूर्तियाँ बनाई हैं - मिट्टी की। दिन की रोशनी में आप आते तो दिखलाता। आपके चेहरे के भावों से लगता है, आप कला के अच्छे पारखी हैं...'' कहते-कहते वह सहसा चुप हो आया। फिर तनिक रुककर बोला - ''आपको भी यही लगता है कि मैंने हत्या की है ?''

उस अंधकार में मैं महसूस कर रहा था, वह अपलक मेरी ही ओर देख रहा है।

''किसी से कहिएगा तो नहीं....'' वह मुझे पुलिस अधिकारी से कुछ दूर एकांत में ले जाता हुआ बोला, ''यह भूल...यह भूल मुझसे नहीं, मेरे बेटे से हुई थी। भरी जवानी में उसे फाँसी के तख्ते पर झूलते या उमर कैद की सजा काटते मैं कैसे देख सकता था ? इसलिए जुर्म मैंने खुद ओढ़लिया।...यों मुझे अब जीना ही कितना है - हद से हद साल-छह महीने, बस...!'' उसका स्वर भारी हो आया।

''बच्चे कभी मिलने आते हैं ?'' मैंने असह्य मौन तोड़ते हुए कहा।

वह कुछ भी न बोल पाया - प्रत्युत्तर में।

''चिट्ठी-पत्री आती है...?''

''न्नाँ...'' कहीं खोया-खोया-सा वह बोला, ''कौन लिखेगा मुझे चिट्ठी...सब मुझसे घृणा करते हैं। यही समझते हैं कि यह सब बुढ़ापे में मैंने ही किया। सगे-संबंधी कतराते हैं। पत्नी मेरा मुँह तक नहीं देखना चाहती...जिस बेटे के लिए मैंने यह सब किया, वह मुझे कब का मरा मान चुका है...ये सारे कैदी, जिनकी चादरें मुझसे भी अधिक मैली हैं, मुझ पर थूकते हैं...। किन्तु मुझे इस सबसे दुःख नहीं होता। मेरे बच्चे सुख से रह रहे हैं - इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए ?''

उसकी आवाज़ भीग आई थी। किन्तु वह अपनी रौ में बोलता रहा, ''यहाँ मजदूरी से मुझे साढ़े चार रुपए रोज मिलते हैं। अब तक मेरे खाते में जितने भी रुपए जमा हैं, सब मैंने उनके नाम करवा दिए हैं। मेरे मरने के बाद उन्हें अच्छी रकम मिल जाएगी...बहुत अच्छी...'' उसकी लड़खड़ाती आवाज़ में कहीं अपरिमित संतोष का-सा भाव उभर रहा था। इससे अधिक वह कुछ बोल न पाया।

उस सघन अंधकार में धूल उड़ाती हुई हमारी जीप जब लौटने लगी, तब मैंने सहसा मुड़कर देखा- वह वैसा ही पाषाणवत् खड़ा था। स

समालोचकों की दृष्टि में हिमांशु जोशी का सृजन

जोशी जी के उपन्यास तथा कहानियों के विषय अलग-अलग रहे हैं लेकिन इनका स्वर एक ही रहा है। यथार्थ उनके कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण पहलू है। देश-प्रेम, राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर ही वे समाज में परिवर्तन चाहते हैं। इनके कथा साहित्य में विषम समाज व्यवस्था, आर्थिक विपन्नता, गरीबी, शोषण, अन्याय, अत्याचार तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा उससे हो रही उथल-पुथल, समाज में हो रहे मानवी मूल्यों की गिरावट का यथार्थ चित्रण हुआ है।

- अनिल सालुखे

('हिमांशु जोशी का कथा साहित्य' में कृति से)

जोशी जी ने ''एक-समाज'' के रूप में पर्वतवासियों के उस आंचलिक समाज को आधार माना है जो दूरस्थ गांवों में निवास करता हुआ सामाजिक-विसंगतियों, मानवीय आपसी-सम्बन्धों, व्याधियों से परिपूर्ण स्थितियों इत्यादि अनेक दशाओं से गुजरना रहता है। उन्होंने अपनी रचनाओं को जीवन के अति निकट खींचा है, ताकि समाज व मानव का यथार्थ चित्रण हो सके। जीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करते हुए उसमें उपस्थित संस्कृति का प्रत्यक्षीकरण करना भी उनके साहित्य का लक्ष्य है।

- अरुण प्रकाश दौण्डियाल

('हिमांशु जोशी के आंचलिक कथा साहित्य में सम-सामयिक परिस्थितियों का समग्र मूल्यांकन' कृति से)

हमारे समय में उन महत्त्वपूर्ण कथाकारों में से हैं हिमांशु जोशी जिन्होंने अपनी शैली, शिल्प और कथ्य से अपनी एक अलग पहचान बनाई है, हिमांशु जोशी ऐसे ही कथाकारों में हैं जिन्होंने अपनी कहानियों में प्रयोग भी किए, नए मुहावरे भी गढ़े लेकिन अपनी परंपरा और विरासत का पूरा-पूरा ख्याल भी रखा। जोशी ने जीवन की सच्चाईयों को कहानी में उतारने के लिए किसी तरह की चमत्कृत भाषा का प्रयोग नहीं किया है, न ही वे किसी जादुई यथार्थ को हमारे सामने रखते हैं। वे जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों को बहुत ही सहजता से अपनी कहानियों में उतार कर पाठक से संवाद बनाते हैं।

- फजल मल्लिक

(इंडिया टूडे, मई 2006)

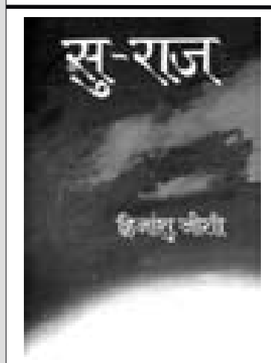

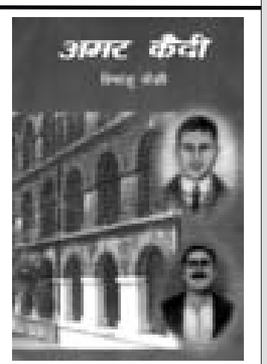

साक्षात्कार

मैं उस प्रगतिशीलता को स्वीकार करता हूँ जिसमें व्यापकता हो.....

प्रसिद्ध कथाकार हिमांशु जोशी से डॉ.चंदर सोनाने की बातचीत

आप कहानी की दुनिया में कैसे आए ?

मैंने 10-12वीं कक्षा तक कविता लिखी और तभी अचानक मेरा झुकाव कहानी की तरफ़ बढ़ा और तब से अब तक है। लगभग 1951-52 की बात है। दो कहानियाँ लिखी तो थीं, लेकिन छपने नहीं भेजी थीं। लिखने में, पेंटिंग में, पत्रकारिता में मेरी रुचि थी। पत्रकारिता में मैं आया तब तक कोई अनुभव न था। जब मैं दिल्ली आया तब 'इन्द्रधनुष' नामक मासिक डायजेस्ट में मुझे सबएडिटर का ओहदा दे दिया गया। तब से लगभग 50-52 साल तक पत्रकारिता भी चलती रही और लेखन भी चलता रहा।

नहीं, यह तो लेखन की शुरुआत हुई । लेकिन कहानी की यात्रा आगे कैसे बढ़ी ?

एक दिन जैनेन्द्र जी से मिलने गया। वहाँ एक टाइपिस्ट बैठा था। उसने कहा कि बाबूजी एक विद्यार्थी आपसे मिलने आया है। तो जैनेन्द्र जी बातें करने लगे स्टोरी की। कुछ दिनों बाद जब मैं मिला तो उन्होंने कहा कि गए नहीं अभी घर ? तो मैंने कहा कि नहीं, मैं अभी घर नहीं जा रहा हूँ। यहीं कुछ काम ढूँढ़ना चाहता हूँ। तब जैनेन्द्र जी ने कहा कि तुम्हारे हाथ में क्या है, सफ़ेद रंग का कुछ बेलन जैसा, मैंने कहा, कुछ नहीं। उन्होंने कहा, कुछ तो है दिखाओ। दिखाया। वो कहानी थी जो मैंने लिखी थी रात को बैठकर, कहानी का नाम था 'बुझे दीप'।

जैनेन्द्र जी ने कहा कि 4-4.30 बजे 7/36, दरियागंज आ जाना। पास ही घोड़े वाला पार्क था, पार्क में छाँव में बैठा रहा, शाम को जब मैं 4.30 बजे जैनेन्द्र जी के पास पहुँचा तो उन्होंने कहा कि कहानी तुम अक्षय को दे आओ। अक्षय कुमार जैन 'नवभारत टाइम्स' के प्रधान संपादक थे उनके भानजे भी लगते थे। मैंने कहा कि यह कहानी छपने लायक नहीं है। तो उन्होंने कहा कि अक्षय को दे आओ और उससे कहो कि मुझसे बात करे फोन पर। हमें बड़ा बुरा लगा कि पहली कहानी छपे वह भी सिफ़ारिश से। यह हमारे स्वाभिमान के विरुद्ध है। यह उचित नहीं। पाँच मिनट का रास्ता था नवभारत टाइम्स, ऑफ़िस का। हम गए तो अक्षय कुमार जी बैठे थे। हमने सोचा कैसे दें, एक ही तरीक़ा है और हम कमरे के दरवाज़े से ही बाहर आ गए और चपरासी को कहानी दे आए, बिना कुछ बताए। हमने चपरासी से कहा कि ये अंदर दे आना, किसने दिया, क्यों दिया, ये कुछ मत बोलना। हमें सुकून मिला कि कहाँ हम मुसीबत में फँस गए थे। बात आई-गई हुई। दो-तीन महीने बीत गए।

कथाकार संपादक कमलेश्वर के साथ जोशी जी।

एक दिन सुबह-सुबह हम उठे और चाय की गुमटी पर गए। हम बैठे थे तो वहाँ अख़बार बिखरा पड़ा था। हमने उठाकर देखा तो 'नवभारत टाइम्स' अख़बार था। उसमें हमारी कहानी छपी थी। हमने पूरी कहानी पढ़ी। कहानी में कहीं भी कोई फेरबदल नहीं किया गया था। एक भी शब्द बदला नहीं था। यह बात सितंबर-अक्टूबर 1955 की है।

अब हमने सोचा कि जेब में डेढ़आना है। इसमें या तो चाय पी जा सकती थी या अख़बार ख़रीदा जा सकता था। चाय तो हम बाद में भी पी सकते थे तो हमने चाय छोड़कर अख़बार ख़रीद लिया। हमें ख़ुशी है कि हमारी पहली कहानी के पाठक जैनेन्द्र जी थे। हमें लगा कि जैनेन्द्र जी की उम्र तक पहुँचकर हम जैनेन्द्र से बहुत आगे निकल जाएँगे। यह भी विचार आया हमें अपनी ख़ूबियों का और ख़ामियों का भी पता था और ये भी पता था कि ये दूसरे लोग कहाँ पर हैं ? अभी भी मुझे लगता है कि मुझे जो मिलना था वों नहीं मिला, लेकिन मिलेगा। मुझे लगता है देर-सवेर रचना अच्छी हो तो उसकी परख होती ही है। इसमें वक़्त लगता है।

आपकी कौन सी रचना आज भी आपको मुग्ध करती है ?

लेखक से यह नहीं पूछा जाना चाहिए। और दूसरी बात जिस प्रकार हर पिता को अपने सभी बच्चे अच्छे लगे हैं। उसी प्रकार लेखक के लिए सभी रचनाएँ अच्छी होती हैं। लेकिन फिर भी पाठकों में 'कगार की आग' सबसे अधिक चर्चित रहा है। लगभग 20-21 भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। और अभी भी हो रहा है। इटैलियन में भी हुआ। इटैलियन यूनिवर्सिटी में बी.ए.और एम.ए.में पढ़ाया जाता रहा। इस पर एक लड़की ने पी-एच.डी.की। वह पुस्तक रूप में भी छपा। संस्कृत में भी अनुवाद किया गया है। विश्व की अनेक भाषाओं और भारत की लगभग सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। फ़िल्म भी बनी। इस फ़िल्म को उसके महत्त्व के कारण सुरक्षित भी रखा गया है। नाटक भी लिखे गए। रेडियो नाटक भी लिखे गए। इसका मंचन भी हुआ। इसके अलावा 'तुम्हारे लिए' उपन्यास भी मुझे बहुत प्रिय रहा है। इसके पाठक बहुत हैं। एक पाठक, सॉफ्टवेयर इंजीनियर हैं और कविताएँ भी लिखते हैं। उन्होंने मुझे पत्र लिखा। इसमें उन्होंने बताया कि आज मैंने आपका यह उपन्यास 250वीं बार पढ़ा। और ऐसा कोई दिन न था, जब मैं बहुत द्रवित न हुआ हूँ,उन्होंने मुझे पत्र में चार-पाँच सवाल लिखकर भेजे और कहा कि आप इनका जवाब मुझे दे दें। मैं सवाल टाल गया। अभी भी उनके पत्र मुझे मिलते हैं। इस पर भी फ़िल्म बनी। नाटक लिखे गए। मंचन भी हुआ। इस उपन्यास का भी अनुवाद हुआ।

कहा जाता है 'तुम्हारे लिए' आपकी आत्मकथा है ?

(हँसते हुए) लोग यह भी कहते हैं। मैंने कहा न पूरी तरह से सच कुछ भी नहीं होता। आधी हक़ीक़त, आधा फसाना।

कहानी कौन सी आपको प्रिय रही है ?

'अगला यथार्थ' काफ़ी अच्छी रही है, 'पाषाण गाथा' है, 'अंततः है।

साहित्यिक आलोचना ने लेखन में बदलाव के लिए कभी दबाव बनाया, परोक्ष या अपरोक्ष में ?

साहित्यिक आलोचना अगर निष्पक्ष भाव से बिना किसी पूर्वाग्रह के हो तो अच्छी लगती है। इसमें आत्मचिंतन के लिए भी विवश करती है कि जो लिखा वह अच्छा लिखा है या उससे भी अच्छा हो सकता था। साहित्य में अभी जो चल रहा है उसमें हम ऊपर-ऊपर से देखते हैं, गहराई से सोचना भूल गए हैं । इसमें हमें गंभीरता से सोचना चाहिए, तह में जाना चाहिए और निष्पक्ष भाव से इसका निरूपण होना चाहिए।

हम जो लिखते हैं तो पाठक के लिए लिखते हैं, आलोचक के लिए नहीं लिखते। चटपटा मसाला बनाकर नहीं लिखते हैं, ज़िन्दगी के जिए हुए कुछ क्षण होते हैं, जिन्हें हम सही ढंग से, मार्मिक ढंग से, प्रभावकारी ढंग से व्यक्त करने की कोशिश करते हैं। दूसरा यह कि आलोचना में आजकल बहुत से विकार आ गए हैं, पर यह जीवन के हर हिस्से में है। पत्रकारिता में, व्यापार में, अध्यापन में और जीवन के अन्य अंगों में भी हो रहा है।

किसी संस्थान से जुड़कर कार्य करना और स्वतंत्र लेखन, इनमें से आप किसे बेहतर मानते हैं ?

मुझे कोई शिकायत नहीं पत्रकारिता से। रोजी-रोटी के लिए कुछ आधार तो चाहिए था, इसलिए लेखन के साथ मैंने पत्रकारिता को चुना, लेकिन फिर भी मुझे लगता है मुझे लिखने का और समय मिलता तो मैं और बहुत-बहुत लिखता। जो वक़्त पत्रकारिता में चला गया वो बच जाता। लेकिन यह भी है कि पत्रकारिता के 25-30 साल में अनुभव भी प्राप्त हुआ । ये सब चीज़ें लेखन में खाद के रूप में काम आती हैं। जो हो गया, शायद वही मेरी नियति थी। अब लगता है कि मुझे समय बर्बाद नहीं करना है, मैं जो करना चाहता हूँ मुझे कर लेना चाहिए।

एक समय था जब हिन्दी की श्रेष्ठ पत्रिकाएँ छपती थीं, सब धीरे-धीरे बंद हो गईं ?

कारण यह है कि जिन लोगों ने पत्र-पत्रिकाएँ निकाली थीं, उन लोगों के सामने एक लक्ष्य था। साहित्य को आगे ले जाने का, कुछ अच्छा करने का, इसलिए उन्होंने धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान आदि पत्रिकाएँ निकालीं, जो वर्षों तक चलीं और जिन्होंने पूरे हिन्दी जगत को प्रभावित किया। उनके लिए पत्रकारिता अर्थसंचय करने का माध्यम नहीं था, बल्कि सेवा का, समाज में सांस्कृतिक समरसता लाने का प्रयास था।

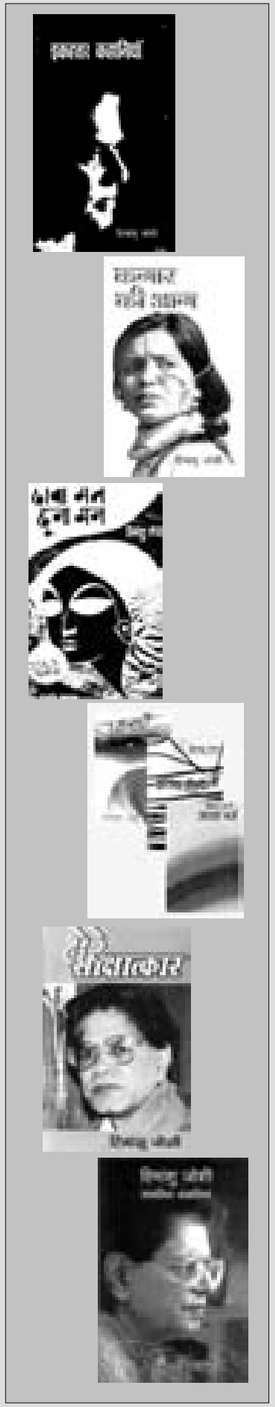

जब वो पीढ़ियाँ ख़त्म हो गईं और नई पीढ़ियाँ आईं तो उनके लिए कोई अर्थ नहीं रह गया इन चीज़ों का। उनके लिए पत्र-पत्रिकाएँ निकालना ज़रूरी नहीं था। उन्हें वह चाहिए था जो उनके लिए अधिक से अधिक लाभकारी सिद्ध हो। जो बचे हैं उन्हें अन्य व्यवसाय करने में अधिक लाभ दिखाई देगा तो वे भी बंद कर देंगे। मिशन नहीं है, जो उनके पूर्वजों में होती थी एक-दो पीढ़ी के बाद यह भी खत्म हो जाएगा। उनके लिए फिर कपड़े की दुकान खोलना या अख़बार की दुकान खोलने में कोई फ़र्क़ नहीं रह जाएगा।

हमारे देश के कुछ लेखकों ने अंग्रेज़ी में लिखा और वे देश-विदेश में काफ़ी प्रसिद्ध ही नहीं हुए,बल्कि उन्होंने लाखों कमाए भी।

अंग्रेज़ी का एक अलग संसार है। अलग उसके पाठक हैं। अलग उसकी मानसिकता है। हिन्दी की अलग समस्याएँ हैं। हिन्दी में भी लोग पढ़ते हैं, लेकिन भारत में पुस्तक-संस्कृति अभी तक पैदा नहीं हुई है। पुस्तक हमारे लिए अनिवार्य नहीं है। किताबें जीवन का हिस्सा नहीं बनी हैं। हम घर का बजट बनाते हैं तो उसमें पुस्तक के लिए अलग से कोई बजट नहीं बनता। किताब के प्रति जो वातावरण बनाना चाहिए था, वह नहीं बन पाया है। हिन्दी आम लोगों की भाषा है और उससे जो आय है, वह सीमित है। अंग्रेज़ी का क्षेत्र बड़ा है, उससे आय ज़्यादा है, व्यापक है।

आप अपने अभी तक के लेखन से संतुष्ट हैं, यदि हाँ तो क्यों और नहीं तो क्यों ?

दोनों ही हूँ। मैं संतुष्ट भी हूँ और नहीं भी हूँ। संतुष्ट यूँ हूँ कि मैंने जो भी थोड़ा-बहुत लिखा, वह लिखा। ज़्यादा नहीं लिखा तो उसकी कुछ मजबूरियाँ थीं मेरी। लेकिन जो लिखा, उससे मेरी असंतुष्टि नहीं है। मेरा आकलन आज नहीं तो कल होगा। कभी ढंग से होगा। जो मेरा प्राप्य है, वह भी मुझे मिलेगा। अभी भी मैं सक्रिय हूँ, अभी भी मैं काम में जुटा हुआ हूँ और मुझे लगता है कि कुछ न कुछ तो होगा ही। बहुत सी योजनाएँ हैं जो पूरी करनी हैं। परिणाम सार्थक ही होंगे।

कृपया अपने और परिवार के बारे में बताइए ?

हम लोग हिमालय के प्रांगण में उत्तरांचल के उत्तर के निवासी हैं। वहाँ खेतीखान के नज़दीक एक छोटा-सा गांव जोस्यूडा है। जोशियों का गाँव। अब तो सब लोग इधर-उधर चले गए हैं। हमारे दादाजी छोटा सा व्यापार करते थे और खेती का भी थोड़ा सा कार्य करते थे। पिताजी उस कस्बे को छोड़कर दूसरे खेतीखान, जो लगभग 3 मील की दूरी पर है, में बस गए। वहाँ कारोबार शुरु किया। वहीं हमारे पिताजी का जन्म स्थान है मेरा भी वहीं 9-10 मई की मध्य रात्रि को जन्म हुआ था। यहीं हमारा लालन-पालन हुआ। माताजी हमारी बहुत सूझबूझ वाली, दूरदर्शी और रचनात्मक थीं। पिता तो 1942 से पहले ही गुज़र गए थे। माताजी पढ़ी-लिखी नहीं थीं और मैं अकेला लड़का था।

तीन बहने थीं। माताजी ने मुझे हमेशा प्रेरित किया, कहीं रुकावट नहीं डाली। परिवारजनों में भी पत्नी के साथ-साथ सभी ने, जितना दे सकते थे मुझे सहयोग दिया।

सामान्यतः साहित्य से आजीविका चलाना कठिन होता है। आपने इसे कैसे चुन लिया ?

मैं उस काम में जाना चाहता था, जिसकी कोई सीमा न हो। जैसे - डॉक्टर, लॉयर, चित्रकार, लेखक का काम है, जिसमें कहीं तक भी जा सकते हैं। लिखना मेरी रुचि का भी विषय था। लिखते हुए मुझे कई दशक हो गए और आज भी लिख रहा हूँ। मैं खत्म नहीं हुआ हूँ। लोग ख़त्म हो चुके हैं। राजेन्द्र यादव ने कई वर्षों तक एक कहानी भी नहीं लिखी। ऐसा ही मन्नू भंडारी ने क्या लिखा ? जीवन में केवल ढाई उपन्यास। मेरी किताबें तीस-चालीस हो गई होंगी। हम अभी भी सक्रिय हैं। लिखने का यह सिलसिला इसलिए जारी रहेगा कि हमारा संघर्ष ख़त्म नहीं हुआ, अभी भी जारी है। मुझे अभी मेरी मंज़िल नहीं मिली। अगर हम जीवित रहे तो काफी आगे निकलेंगे, आगे चलेंगे। मुझे लगता है कि मैंने लिखना शुरु ही नहीं किया, जो मैं लिखना चाहता हूँ।

आप तो अनेक लेखकों के सम्पर्क में आए कैसा अनुभव रहा ?

मैं बहुत सौभाग्यशाली हूँ। मुझे अपने जमाने के अधिकांश बड़े लेखकों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनमें सबसे पहले जैनेन्द्र जी का नाम है। उनसे

परिजनों के साथ हिमांशु जोशी जी।

विदेशी रचनाकारों के साथ जोशी जी।

बहुत कुछ सीखा। जैनेन्द्र जी में बहुत शालीनता, शिष्टता थी और अपने विरोधियों को भी सहजता से पराजित करते थे। घोर आलोचना करने वालों से भी सहृदयता से मिलते थे। उनके इसी गुण ने उन्हें अजातशत्रु बना दिया। इसी तरह राहुत सांकृत्यायन का भी मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जब भी मैं जीवन में परेशान होता तो एक ही उपाय था राहुल जी की किताब पढ़ना और फिर मैं सामान्य हो जाता था। वे सही अर्थों में स्थितप्रज्ञ साधक थे। उनमें कोई अभिमान नहीं था, कोई बड़बोलापन नहीं था, बहुत उदार और सहिष्णु थे। कम्युनिस्ट पाटी के मेंबर थे, कम्युनिस्टों द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध करने पर उन्होंने पार्टी छोड़ दी। ऐसे और अन्य लोग महादेवी जी, लीलाचंद, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर जैसे कई विभूतियों से मैंने बहुत कुछ सीखा। गोविंदवल्लभ पंत नाटककार थे, हिन्दुस्तान टाइम्स के ऑफिस में जब पहली बार मुझसे मिलने आए तो संपादक मनोहर श्याम जोशी से मेरे बारे में पूछा कि कहाँ बैठते हैं, मुझे उन्हीं से मिलना है। कमलेश्वर मेरे भाई की तरह थे। हम दोनों ने मिलकर समानांतर संस्था चलाई, लेकिन बाद में वह बंद हो गई।

पत्रकारिता में राजनीति का दख़ल रहता आया है और पत्रकारिता की भी अपनी राजनीति होती है। इन सबको आपने कैसे निभाया ?

मेरी जो सोच है वह यह है कि साहित्य हो या पत्रकारिता हो, ये मनुष्य के हित के लिए है। केवल ओढ़ने से नहीं होता, जीने से होता है। पत्रकारिता है तो उसके अपने लाभ और नुकसान भी हैं। लेखक है उसके भी कुछ प्लस हैं, कुछ माइनस हैं। इसमें समन्वय और संतुलन की ज़रूरत होती है। यह दुर्भाग्य है कि आज लेखक भी, प्रदेश से, जाति से, वर्ण से जुड़ गया है। जैसे जज की कोई जाति नहीं होती, कोई वर्ण नहीं होता, वह सबका है और सबके लिए है, वैसे ही लेखक की कोई जाति नहीं होती। उसकी प्रतिबद्धता मात्र मनुष्य के लिए होती है। पहले से अवधारणा नहीं बना लेना चाहिए कि हमने इसको तो हराना ही हे। यह तो विक्रमादित्य की न्याय शिला है। जज की तरह लेखक को भी इस पर रहकर न्याय करना ही पड़ेगा। नहीं करते हैं तो ज़िम्मेदारी से भागते हैं।

आप लेखन की सृजनात्मकता, आलोचनात्मकता और चिंतन की दिशाओं में से क्रमशः किस प्रकार से विकसित होते चले गए ?

विकास में एक का नहीं सबका सहयोग होता है। मुझे लगता है कि जब आप एक सही सर्जक होते हैं तो वह गुण अपने आप आ जाता है। जैसे खेती करने के लिए ज़मीन तैयार करते हैं, तभी बीज अंकुरित होता है। उसी प्रकार एक वातावरण अपने अंतस्थल का, मस्तिष्क का, अपने विचारों का बना लेता है, तो उसके अनुकूल वह करता चला जाता है।

जीवन में बड़ी और इकलौती इच्छा क्या रही ?

मैं लेखक हूँ तो यही मानूँगा कि जो चाहूँ लिखूँ, लिख सकूँ, लिख पाऊँ। मुझे लगता है कि मैं जो चाहता था, वह मैं नहीं लिख पाया। मैंने ज़िन्दगी को कभी

बोझ माना। जीवन को मैंने हमेशा सार्थक माना। सार्थक श्रम वह है, जो शुद्ध हृदय से किया गया हो। सबका भला हो, यह सोच हो।

जीवन के इस मुकाम पर कोई अफसोस ?

मैं इस दृष्टि से भी अपने को सौभाग्याली मानता हूँ कि मुझे कम नहीं मिला। यह भी है कि मैं यदि थोड़ा व्यावहारिक और वणिक बुद्धि का होता तो थोड़ा ज़्यादा फायदा उठा सकता था। लेकिन मुझे जितना भी मिला है, उससे मुझे कतई असंतोष नहीं है। मुझे काफी स्नेह मिला, अपनापन मिला और इज़्ज़त मिली। वैसे चाहने का तो कोई अंत नहीं है, उस अंतहीन चाह से आप करेंगे क्या ? दो रोटी आपको खानी है। हज़ार बोरे अनाज का रखकर करेंगे क्या ? जो मिला, वह बहुत है।

कहा जाता है कि साहित्य के पाठकों की संख्या को प्रभावित करने में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की भूमिका भी है, आप क्या कहते हैं ?

मीडिया जो है वह ग़लत लोगों के हाथों में चला गया है। मीडिया सिर्फ़ दूरदर्शन या रेडियो ही नहीं है।इससे अधिक प्रभावशाली मीडिया है जो ढेरों चैनल्स चल रहे हैं।

मैं उसी की बात कर रहा हूँ।

ये जो चैनल्स चल रहे हैं। ये कमर्शियल चैनल्स हैं। वो तो नंगापन भी दिखाएँगे। जो भी दिखाना है दिखाएँगे और आर्थिक लाभ देंगे। देखिए, पहले लोग जीवन भर साधना करते थे। और उसके बाद भी कुछ मिल जाए तो अच्छा। कई बार नहीं भी मिलता था। पर वे कुंठित नहीं होते थे। जैनेन्द्र जी अकसर कहते थे कि मैं तो अकेला खड़ा हूँ मैदान में छोलदारी लगाए। तो आदमी आस्था के सहारे खड़ा रहता है। उनके पीछे कोई नहीं था। पूरे हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई नहीं मिला जिसने जैनेन्द्र का साथ दिया हो। वे अकेले थे। लेकिन उनके चेहरे पर कभी कुंठा नज़र नहीं आई थी।

आपने जैनेन्द्र की बात की तो एक बात याद आई कि जैसे नई कहानी के समय एक बात कही गई थी कि उन लोगों का यह मानना था कि अब तक की कहानी विचार के सहारे बनती या विकसित होती आई है पर विचार कितना भी महत्त्वपूर्ण हो अनुभव की जगह नहीं ले सकता ? वस्तुतः वह विचार के विरुद्ध अनुभव की कहानी थी।

दरअसल यह बात सिरे से ही ग़लत है। विचार कभी अनुभव के विरुद्ध नहीं होता है। वह उसे विश्लेषण करने में सहायक बनता है। बिना विचार और बिना अनुभव के कहानी, कहानी हो ही नहीं सकती है। इसमें वस्तुस्थितियों का आकलन भी होगा। दूसरा यह कि मैंने पहले भी कहा था कि भौतिक चीज़ों में जल्दबाज़ी चल जाती है लेकिन अंबानी तीस सालों में धनकुबेर हो गया। लेकिन दुनिया का सारा धन उपयोग करके एक रवीन्द्रनाथ टैगोर पैदा नहीं कर सकते हैं। वह एक अलग फिनोमिना है। एक अलग तरीका है सोचने का। जो आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताएँ हैं या कहें दृष्टिकोण है, वह अलग है। जो केवल भौतिक है वह अलग है। एक रवीन्द्रनाथ टैगोर के घर दूसरा रवीन्द्रनाथ टैगोर पैदा हो, असंभव है। जबकि टाटा के घर टाटा ही पैदा होता है। पानी को फीते से नहीं नापा जा सकता है। उसका पैमाना अलग है।

लेकिन रचना में आप विचारधारा की उपस्थिति को कहाँ तक स्वीकार करते हैं ?

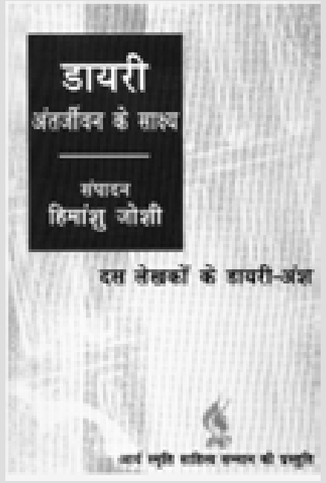

बिना विचारधारा के कोई लेखक हो नहीं सकता है। इस पूरी दुनिया में बल्कि कहें ब्रह्मांड में जो हो रहा है उसे समझना होगा। धर्म है। अध्यात्म है। संस्कृति है। तमाम बातें यह मनुष्य के लिए हैं। मनुष्य इनके लिए नहीं है। धर्म के लिए मैं नहीं हूँ। धर्म मेरे लिए हो सकता है। पेनेसिलिन से यदि मैं मर जाऊँगा तो कई लोग पेनेसिलिन से अच्छे भी हो जाते हैं। इसलिए मरने और जीने के भिन्न पक्ष हैं। सभी चीज़ें मनुष्य से जुड़ी हैं। मनुष्य से बड़ा कोई नहीं है। न कोई जाति, न कोई धर्म, न देश, कोई नहीं। कोई कमीज विदेश से लेकर आएँगे और आस्तीन छोटी पड़ जाएगी तो क्या बाँह काट देंगे ? इसी तरह धर्म भी है।

रचना में कला की उपस्थिति को कहाँ तक और कितना स्वीकारते हैं ?

रचना में कला होना चाहिए। क्यों नहीं, होनी चाहिए। लेकिन कला के लिए कला नहीं होना चाहिए। मुझे अपने वातावरण को जीवंत बनाना है और मैं कलाकार हूँ। पेंटर हूँ तो मैं उन्हीं रंगों का इस्तेमाल करूँगा जो मुझे ज़रूरी लगेंगे। जिससे रचना प्राणवान लगे। अभी आपने प्रगतिशीलता की बात कही तो प्रगतिशीलता भी मेरे लिए है। मैं प्रगतिशीलता के लिए नहीं हूँ। गरम कपड़े मैं जाड़ों में ही पहनूँगा। ख़रीद लिए हैं, पैसे खर्च किए इसलिए गरमी में भी पहनूँगा तो अजीब लगेगा। ग़लत होगा। देह भी नहीं स्वीकार करेगी। इसी तरह वाद भी है। 'मज्झिमनिकाय' में लिखा है राहुल जी कहते थे - इसमें लिखा है कि मैंने धर्म को नाव की तरह लिया है। नदी पार करने के बाद नाव को कंधे पर नहीं ले जाते हैं। नाव को वहीं छोड़ आते हैं। इसी तरह विचार और धर्म भी है। वो मेरे लिए है। अगर वो मुझे ऊँचा नहीं उठाते हैं तो मुझे उसे छोड़ देना चाहिए। इसी तरह वाद या धर्म भी है। बहुत ज़्यादा आस्तिक भी नहीं होना चाहिए और न अधिक नास्तिक। धर्म या वाद के नाम पर लड़ा जाए यह तो नासमझी है। हमारे यहाँ जो चिंतन है वह अधूरा है। दो दिन में टैगोर या गोर्की नहीं बन सकते हैं वह ज़िन्दगी भर की साधना है।

आप ख़ुद को किस विचारधारा के क़रीब महसूस करते हैं ?

जो मनुष्यता के क़रीब हो।

आप ख़ुद को प्रगतिशीलों के करीब मानते हैं ?

हाँ, मानता हूँ। कोई लेखक यदि प्रगतिशील नहीं है तो वह लेखक ही नहीं है। मैं उस प्रगतिशीलता को स्वीकार करता हूँ जिसमें व्यापकता हो।

लेकिन प्रगतिशीलता का आशय जो लेखकों की दुनिया में प्रचलित है वह साम्यवादी विचारधारा से ही है।

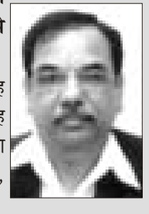

नहीं... मैं वैसा प्रगतिशील नहीं हूँ। मैं ऐसा इसलिये कह रहा हूँ क्योंकि जो एक विचारधारा में बंध जाता है वह लेखन से न्याय नहीं कर पाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि सिर्फ़ यही सही है और बाकी सब गलत है, ऐसा नहीं है। दरवाजे सभी खुले रखने होंगे।

28 विद्यानगर, अलख मेहर आश्रम के पास, उज्जैन - 145010
मोबाइल : 94250-92626

प्रतापसिंह सोढ़ी

उम्मीद की किरण

बाहर हल्की-हल्की बारिश हो रही थी। धुंध छायी हुई थी और तीखी सर्द हवा चल रही थी। घर के भीतर सुखजीत कौर चिंतित एवं बेचैन थी। रात गहरा जाने पर भी उसका पुत्र दीवान सिंह अभी तक घर नहीं आया था। वह जानती थी कि ज़रूर शराब के अड्डे पर नशे में बेसुध पड़ा होगा। दीवान सिंह के बापू दिनभर खेत में कड़ी मजदूरी कर थके-मांदे गहरी नींद सो रहे थे। उसने कम्बल ओढ़ा, एक हाथ में लालटेन पकड़ी और दूसरे हाथ में लठ्ठ। वह शराब के अड्डे पर पहुँची। ओटले पर बेसुध पड़ा था दीवान सिंह और पास खड़े उसके दोस्त की उसकी ऐसी हालत पर हंस रहे थे। लॉलटेन ज़मीन पर रख सुखजीत ने हाथ में पकड़े लठ्ठ को दीवान सिंह के दोस्तों तरफ किया और बरस पड़ी ''शर्म नहीं आती अपने दोस्त की ऐसी हालत पर हंस रहे हो। अरे तुम्हें तो ऐसी हालत में उसे घर छोड़कर आना चाहिए था।'' सभी एक स्वर में बोले ''शर्म तो दीवान सिंह को आना चाहिए जो ढेर सारी शराब पीकर धूल चाट रहा है।'' यह सुन सुखजीत ने हाथ में पकड़े लठ्ठ को उनकी तरफ घुमाया और चीख पड़ी ''भाग जाओ यहाँ से वरना सबको अधमरा कर दूँगी।'' डर के मारे सभी चीखते चिल्लाते हुए भाग खड़े हुए। शोर सुन दीवान सिंह ने मिची आँखों से पास खड़ी माँ को देखा और घुटे-घुटे स्वर में बोला ''माँ इतनी रात गये तुम्हें अकेली यहाँ नहीं आना चाहिए था।'' सुखजीत के क्रोध के पारे में इज़ाफा हुआ और ऊँची आवाज़ में वह बोली'' अरे निठ्ठले नालायक तू यहाँ शराब के नशे में बेसुध पड़ा रहे और मैं आराम से घर बैठी रहूँ। अरे मैं तेरी माँ हूँ....माँ.....। ''माँ तुम घर चलो, मैं आ जाऊँगा।'' यह सुन सुखजीत ने हल्के से उसकी पीठ पर लठ्ठ से वार किया और पूरी ताकत से उसका हाथ खींचा और ज़मीन से उसे उठाया। लड़खड़ाते हुए वह उठा। ज़मीन पर रखी लालटेन उठा उसकी रोशनी में उसने दीवानसिंह का चेहरा देखा। उसकी बुझी-बुझी सुर्ख आँखों में आँसू चमक रहे थे। ममता के उफान में उसने दीवानसिंह को समझाया ''शराब की बुरी लत के कारण तू भरी जवानी में अधेड़ लगने लगा है। तेरा बापू अपना हाड़, मांस, गला दिन भर खेतों में मजदूरी कर दो जूनकी की रोटी जुटा पाता है, और तू उसकी मदद करना तो दूर उसकी इज़्ज़त मिट्टी में मिला रहा है।'' दीवान सिंह माँ के गले मिल सुबक पड़ा और रुंधे कंठ से बोला ''चलो घर चलें माँ''। यह सुन सुखजीत के चेहरे पर मुस्कान बिखरी। उसने दीवानसिंह का हाथ पक़ड़ा और तेज़ कदमों से घर की तरफ चल पड़ी।

विभाजन

एम.ए.फायनल (इतिहास) की परीक्षा में नीलेश के सभी पेपर्स बहुत अच्छे हुए थे। एक पेपर मुगलकालीन इतिहास का बचा था। इस विषय की तैयारी के लिए उसके पास कोई संदर्भ पुस्तक नहीं थी, केवल कॉलेज में लिए नोट्स ही थे। संदर्भ पुस्तक के अभाव में उसे अध्ययन में अधूरापन लग रहा था। उसे पता था कि इस विषय की पुस्तक उसके क्लास मेट जगदीश के पास है। वह उसके घर गया। उसे देख जगदीश ने पूछा ''कैसी चल रही है परीक्षा की तैयारी।'' बुझे मन से उसने उत्तर दिया ''ठीक ही चल रही है। बस मुगलकालीन इतिहास पर कोई पुस्तक न होने से दुविधा में हूँ।'' ''काहे को चिंता करता है रे नीलेश! हम दोनों एक ही पुस्तक से पढ़ लेगें।'' बड़े विश्वास के साथ जगदीश ने कहा। नीलेश सोचने लगा कि यह कैसे संभव हो सकता है कि एक ही पुस्तक से दोनों एक साथ कैसे पढ़ सकते हैं।'' ''कुछ मत सोचो नीलेश।'' जगदीश ने पुस्तक उठाई और उसे मध्य से फाड़कर दो हिस्से कर दिये। एक हिस्सा नीलेश को देते हुए उसने कहा ''अभी परीक्षा में पाँच दिन बचे है। दो दिन तक तू इस हिस्से को पढ़लेना। तब तक मैं दूसरा हिस्सा पढ़ लूँगा। पहला हिस्सा पढ़ने के बाद मुझे लौटा देना, मैं तुम्हें दूसरा हिस्सा दे दूँगा। इस तरह हम दोनों एक साथ इस पुस्तक को पढ़लेगें।' जगदीश की सूझ बूझ एवं मैत्री भाव को देख वह गद्‌गद् हो गया। उसे मुल्क के विभाजन के समय होने वाले कत्लोदहशतगरी, दरिंदगी, विनाश और इंसानियत को तार-तार करने वाले दर्दनाक हैवानियत भरे किस्से याद हो आये लेकिन आज एक किताब के विभाजन ने मित्रता की एक अनोखी दास्तान लिख दी थी।

5, सुखशांति नगर, बिचौली हप्सी रोड़ इन्दौर-452016
मो. 9479560623

योगेन्द्रनाथ शुक्ल

म्यूजियम

लम्बे चौड़े शरीर और बड़ी-बड़ी मूँछों वाले उस बुत ने दूसरे से कहा ''पहले लोग हमें देखने 'म्यूजियम' में आते थे। हमें प्रणाम करते थे, हमारे पाँव छूते थे। हमारी वीरता की प्रशंसा करके कहते थे कि ये वो वीर राजा हैं जो अंग्रेज़ों से लड़ते-लड़ते खेत हुए लेकिन उन्होंने अपनी मातृभूमि के लिए कभी समझौता नहीं किया। आज चार दिन हो गए, एक व्यक्ति भी म्यूजियम के अंदर नहीं आया।'' यह कहते हुए बुत काँप उठा। दूसरा बुत उसकी बात सुनकर बोला ''पहले के दिन अच्छे थे जब टेक्नालॉजी नहीं आयी थी। उस समय भले ही जहाज, कम्प्यूटर, मोबाइल नहीं थे परन्तु लोगों में प्रेम था...आस्था थी.... विश्वास था। टेक्नालॉजी ऐसी विकसित हो गयी कि अब सब उसी में लगे रहते हैं। किसी के पास समय नहीं कि वो अपने पूर्वजों को जाने!'' ''तुमने सच कहा जो अपने माता-पिता को सम्मान नहीं दे रहे, उनसे क्या उम्मीद ?'' ''.... तो क्यों हमें म्यूजियम में स्थापित किया ? क्या इस तरह अपमान करने के लिए?'' 'म्यूजियम' में वापस कब्रिस्तान सा सन्नाटा छा गया।

सर विलियम जॉन

योगेन्द्र नाथ शुक्ल

संस्कृत महाविद्यालय का बोर्ड देखकर वे वहाँ रुक गए!...कितनी मुश्किल से उन्होंने उस समय संस्कृत सीखी थी। अंग्रेज समझकर कोई भी उन्हें संस्कृत सिखाने के लिए तैयार नहीं हो रहा था। पंडितों को डर था कि कहीं समाज उनकी भर्त्सना न करने लगे! बहुत खोज ख़बर करने के बाद एक व्यक्ति ने हाँ भरी। वो भी अपनी कुछ शर्तों के साथ। पहली शर्त तो ये थी कि भले ही आप न्यायाधीश हैं लेकिन आपको मेरे पास आकर विद्यार्थी की तरह पढ़ना पड़ेगा... जहाँ पढ़ाऊँगा, वहाँ पढ़ाने के पहले और बाद में गंगाजल का छिड़काव करना होगा... जो काम दूँगा, उसे दूसरे दिन अनिवार्य रूप से बताना होगा! बड़े ही आनन्द के साथ उन्होंने संस्कृत सीखी। उनकी विद्वता का सभी ने लोहा माना। यही नहीं उन्होंने संसार की एक श्रेष्ठ कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया, जिसे सभी ने सराहा। छड़ी टेकते-टेकते महाविद्यालय के अंदर पहुँचे। एक कक्ष में धोती, कुरता पहने, बड़ा-सा तिलक लगाए गुरुजी, विद्यार्थी से घिरे बैठे अनर्गल बातें कर रहे थे। ऐसी बातें जो अपनी संस्कृति के विरुद्ध थी। मन ही मन वे क्रोध से भर उठे। पास के कक्ष की ओर चले। वहाँ देखा तो एक मेडम बहुत तन्मयता से भास के नाटकों की व्याख्या कर रही थी। यह देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। वहीं खड़े होकर सुनने लगे। कुछ विद्यार्थी अचानक पास के कमरे से 'सरस्वती मेडम हाय-हाय' .... 'सरस्वती मेडम हाय-हाय' करते हुए निकले और उस कक्ष के बाहर आकर शोर मचाने लगे। ये वही विद्यार्थी थे जो गुरुजी को घेर कर बैठे थे। देवभाषा की ऐसी दुर्दशा हो रही है ?उन लोगों को जरा भी नज़र नहीं आया कि उन्हीं के बीच सर विलियम जॉन सिर झुकाए खड़े हैं और उनकी इन हरकतों से दुःखी होकर रो रहे हैं।

390, सुदामा नगर, अन्नपूर्णा रोड़, इन्दौर (म.प्र.)
मोबाईल - 09977547030

अस्मुरारी नंदन मिश्र की कविताएँ

युवा कवि अस्मुरारी नंदन मिश्र की इन कविताओं को पढ़कर इस निर्णय पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि कवि के पास एक बहुत ही साफ़ दृष्टि है। इस साफ़ दृष्टि के आलोक में वह अपने आसपास घटित हो रहे समय को न सिर्फ देख पा रहा है बल्कि उसे बेधने को भी आतुर है। काव्याभ्यास के दौरान होने वाले दृष्टिकोण, प्रतिबद्धता, भाषा, शिल्पादि सम्बंधी असमंजसों से वह पूर्णत: उबर चुका है। जाहिर है यह किसी भी सुकवि के लिए पहली अनिवार्य शर्त है। इसे पूरा करने के बाद कवि के समक्ष काव्य का असीम क्षैतिज धरातल है जिस पर यात्रा हेतु कवि तैयार है। ये कविताएँ इस बात की भी तस्दीक करती हैं कि यह परिपक्वता और समझ कवि ने अपने आत्मसंघर्ष, अध्यवसाय और जिजीविषा के जरिये हासिल की है। पहली कविता 'मौसम का पहला आम' हमारे इस अस्संग समय में, शुष्क और एकांगी होती जा रही रसानुभूति के दौर में एक रसज्ञ की पहल की कविता है। यहाँ बेमौसम टपके आम की संभावित मिठास के कई निहितार्थ हैं। एक मायने में यह भविष्य की उम्मीद की कविता है जो 'सुगवा' और स्वाद की अंत:क्रिया से पैदा हो रही है। 'कलाकृतियाँ' कविता में कवि ने हिंसा से अधिक उसकी मंशा और उसके कलावादी/ रूपवादी जस्टिफिकेशन पर गहरा तंज कसा है। मारे जाने वाले को हिंसा की सैद्धांतिकी या क्लैसिक्स से क्या सरोकार' हाथीदाँत की श्वेत और निर्दोष-सी जान पड़ती कलाकृतियों में छिपी हिंसा को चीन्ह लेना कवि की उसी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है जिसका जिक्र ऊपर किया। 'चौथा प्रेम' प्रथम दृष्टया एक असफल प्रेम की वेदना-सी प्रतीत होती है लेकिन इस कविता का प्रेम से कोई लेना-देना नहीं है। यह उस छद्म प्रगतिशीलता की जड़ पर प्रहार करती शानदार कविता है जो अपने अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। प्रगतिशीलता के दोहरे मानदण्डों, क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थो एवं अन्तर्व्याप्त कठमुल्लेपन ने समूचे प्रगतिशील आंदोलन को क्षतिग्रस्त किया है। ऐसे आंदोलन यूँ ही अपना जनाधार नहीं खो देते। यह कविता प्रगतिशीलता की एक तार्किक परिभाषा के पक्ष में भी खड़ी होती है। कविता की पहली पंक्ति-'यूँ वह बहुत प्रगतिशील घर से' इस छद्म को बेबाकी से बयाँ करती है कि वह केवल एक जीन्स, टॉप, मोबाइल, कम्प्यूटर से अपने को प्रगतिशील समझने वाली कृत्रिम सामाजिक इकाई है। 'कवि जी!' साहित्य के समकाल का एक कच्चा चिट्ठा है। पूरी कविता में एक गहरा व्यंजनात्मक ओज है जिसके आलोक में आपको 'इन दिनों' के साहित्यिक परिदृश्य (परिदृश्य बोले तो राजनीतिक उठापटक, प्रायोजनाएँ, द्वेष,षड़यंत्र इत्यादि) के दर्शन होते हैं। यहाँ 'बायीं' जेब पर मोबाइल काबिज है और 'दायीं' जेब पर तृप्ति का रस पोंछने वाला रूमाल! पिछवाड़े अर्थव्यवस्था है जिसके लुट जाने के भय की छाया में अंतत: कविता गुम जाती है। 'वे जब भी हमें देशद्रोही कहते हैं' स्पष्ट राजनीतिक मंतव्यों वाली कविता है। समकालीन राजनीतिक शब्दावलियों की असल मंशा, राष्ट्रवाद, उन्माद और सत्ता के मंसूबों को यह कविता बहुत बेबाकी से उघाड़ती है। यहाँ यह रेखांकित करने योग्य है कि दरअसल ऐसी कविताओं के अक्सर 'लाउड' होने का खतरा अधिक होता है लेकिन युवा कवि अस्मुरारी ने अपने जाग्रत आलोचकीय विवेक के चलते इसे सघन,स्पष्ट, तार्किक और पैना बनाया है-''हमने देखा/ वे जब-जब हमें देशद्रोही जता रहे होते हैं/ एक सांकेतिक भाषा में अपने साये को/ मुकम्मल देश बता रहे होते हैं।'' इस देश की पिछड़ी, अंधविश्वासी और धर्मोन्मादी जनता को अपनी परम्परा के एक धीरोदात्ती और लोक में बसे चरित्र के माध्यम से किस कदर छला जा सकता है, इसकी दास्तान है-'पत्थर' कविता। इस छोटी-सी कविता का पंक्ति विन्यास अद्भुत है और क्लाईमेक्स 'हे राम!' तो लाजवाब!! अस्मुरारी ने अकेलेपन को लेकर भी कुछ कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ किसानों के अकेलेपन, उनकी आत्महत्याएँ और उनकी वेदना को मार्मिकता से तो उकेरती ही हैं साथ ही उनकी सामुदायिकता को भी महिमामंडित करती हैं। इस मायने में वह अकेलेपन से अधिक 'कम्युनिटी फीलिंग' या सामुदायिक अहसासों की कविताएँ हैं, वह अहसास जो हमारे देश की समूची कृषि-व्यवस्था की आत्मा है। इसमें एकाकीपन का भावुक गलदश्रु रूदन नहीं बल्कि एक सर्जनात्मक समष्टि भाव है-''हमारी गाय-भैंसे-कुत्ते तक रहते आए हैं साथ-साथ/ और सच यही है कि एकल कुछ नहीं होता/ हमारे खेल, हमारे तमाशे, हमारे शिकार/ सब साझे होते हैं।'' 'संतोष है' कविता कवि की स्वीकारोक्ति है लेकिन यह 'कन्फेशन' नहीं, कवि के गौरव को रेखांकित करती है और कवि की अपनी प्राथमिकता का परिचय देती है जो पंक्ति में सबसे अंत में मौजूद व्यक्ति का हाथ थामे है। 'राजाजी की पाद' सत्ता और राजनीति पर बहुत तीखा व्यंग्य है। इस तंज-कविता में युवा कवि ने भाषा के माध्यम से हास्य का पुट देने का प्रयास किया है। सत्ताधीश और उसके दरबार में रची गई काव्य भाषा गुदगुदाती अवश्य है क्योंकि गल्प का विषय ही (शीर्षक भी) हास्यास्पद है। महत्वपूर्ण यह कि कविता के क्लाईमेक्स तक पहुँचते-पहुँचते यह एक प्रखर राजनीतिक भाषा बन जाती है। रेखांकित करने योग्य यह है कि यह कविता समाप्त होने के बाद अपनी भाषा का विलोम रचती है और पाठक को कविता में पुन: लौटाती है एक भिन्न अर्थ खोलने के लिए! अस्मुरारी नंदन मिश्र बेहद प्रतिभाशाली युवा कवि हैं जो अपनी समर्थ काव्य-दृष्टि, गहन संवेदनों, संघर्ष से उपार्जित भाषा-शिल्प और सबसे जरूरी एक स्पष्ट प्रतिबद्धता के साथ अपनी कविता में प्रवेश करते हैं। वे अपनी कविता की महानता पर गर्व नहीं, एक जर्जर और बेपहचान आदमी की पक्षधरता का संतोष चाहते हैं।

निरंजन श्रोत्रिय

मौसम का पहला आम

यह आमों के पकने का समय नहीं था
चू पड़ने का तो कतई नहीं
अभी तो टिकोलों ने
अपना बचपना ही छोड़ा था
गुठलियाँ मजबूत कर रही थी
अपनी मांसपेशियाँ
कि सुबह-सुबह मेरे सामने ही गिरा
मौसम का पहला आम
थोड़ा पियराया हुआ
तो थोड़ा खाया हुआ भी
शायद किसी गिलहरी ने कुतरा हो
शायद किसी और जन्तु या पक्षी ने
बचपन में हम ऐसी हरकत के लिए
एकमात्र सुग्गे को जिम्मेदार ठहराते
और लपक पड़ते उस ओर
''सुगवा के जुठवा
बड़ा ही मिठवा..''
तो शायद वही हो ...

मेरे सामने मौसम का पहला आम है
और मेरे सामने है
रस और परिपक्वता को
पहले-पहल पहचान लेने वाले
किसी अज्ञात की सुदृष्टि...
मैं उठाता हूँ उस दान को
मुँह से लगाकर
उस 'बड़मिठास' को उतारता हूँ
अपने भीतर
और कृतज्ञता के साथ याचना करता हूँ
उसी खोजी नजर की...।

कलाकृतियाँ

पहले मारा गया हाथी
फिर उसी के दाँत से बनी कलाकृतियाँ

कलाकृतियों में हाथी ही थे
एक पर महावत था
अंकुश को हवा में लहराये
दूसरे का शिकार कर रहे थे कुछ शेर
कलाकृतियाँ इतनी जीवंत थी
सब कुछ अपने नग्न रूप में था
भय था, धमकी थी, हिंसा थी

कलाकार कोई हाथी नहीं था
कलाप्रेमियों में भी नहीं था कोई हाथी
हाथियों के लिए तो हत्या थी कलाएँ

चौथा प्रेम

यूँ वह बहुत प्रगतिशील घर से
बड़ी मचल कर बताया करती
घर वालों ने छूट दे रखी है
स्वयंवरण की

बहुत खुल कर किया था पहला प्रेम
इस ऐलान के साथ कि हमें
कोई रोक नहीं सकता एक होने से...
और सबको था भी सब कुछ पसंद
बस माँ दूसरे धर्म को
नहीं पचा सकी थी

उसका दूसरा प्रेम भी
पिता के इस सिद्धांत से वजनदार
नहीं पाया गया
कि 'वोट और बेटी
जात में देने की चीजें हैं'
तीसरा प्यार भाई के स्टेटस पर
फिट नहीं बैठा

इस तरह वह अब
आपने जीवन के चौथे प्रेम में है
प्रेयस का नाम उकेरा जा रहा है
हथेलियों में मेहँदी से
जिसे फिलवक्त उसने देखा नहीं है.....।

कवि जी!

कवि जी!
गिर गई आपकी कविता
बाईं जेब से जब अपने निकाला मोबाइल
वह भी आ गई थी
बॉस के फोन की हड़बड़ाहट में
ध्यान नहीं रहा होगा आपका

हाथ पोंछने के लिए
दायीं जेब से जब निकाल रहे थे रूमाल
उससे लगी कविता भी थी
लेकिन अच्छे खाने की संतुष्टि भी
क्या चीज होती है!
जब आपने पीछे की जेब से निकाला पर्स
साथ आ गई थी
लेकिन बाजार की भीड़ में पर्स पर
ध्यान रखना जरूरी था
नहीं पता चला होगा

कवि जी!
वह तो तब भी गिरी
जब आप निकाल रहे थे
कमीज की जेब से कलम
आलोचक जी के लिए
चिट्ठी के मजमून में
कहाँ ध्यान रहता है ?

होता है कवि जी!
अक्सर ही ऐसा होता है
लेकिन खैर, आपकी कविता अभी सुरक्षित होगी
बस बुहार कर पहुँचा दी गई होगी
कूड़ेदान तक
कवि जी! देख लीजिये एक बार

ओह! कूड़े की परख नहीं है आपको ?
कैसे मिलेगी फिर ?
चिरौरी कर लीजिए
कूड़ा बीनने वाले से ही

लेकिन कवि जी!
आप ही सोचिए
भला वह क्यों दे आपको
आपकी कविता ?

वे जब भी हमें देशद्रोही कहते हैं

बारम्बार
सरे राह, सरे बाजार
वे हमें देशद्रोही कहते हैं
और आक्रमण की मुद्रा में रहते हैं
उनकी भाषा में फाँसी है
हाथ में तलवारें हैं
सबसे जरूरी उनके पास
काले शीशे से मढ़ी कारें हैं
जिनके अंदर उनके इतिहासकार हैं
अपने-अपने इतिहास हैं
अपनी कहानियाँ हैं
अपने रास-विलास हैं
उनके पास मांत्रिक हैं
तांत्रिक हैं
भविष्यवक्ता हैं
सब उनके प्रवक्ता हैं....
उनके पास कवि हैं
कवियों के पास
कविता से अधिक नारे हैं
नारों के लिए दीवारें हैं

वे जब भी हमें देशद्रोही कहते हैं
उनके कोरस में
सियारों के स्वर रहते हैं।

वे जब भी हमें देशद्रोही कहते हैं
उनकी भाषा में द्रोह का
न जाने क्या अर्थ होता है
(देश तो अक्सरहाँ व्यर्थ होता है)
जब भी हमने कहा-
''हम सिर्फ इस देश के लिए ही नहीं हैं''
''सिर्फ इस धर्म-जाति-सम्प्रदाय
के लिए ही नहीं हैं''
''सिर्फ इस भाषा-वर्ग-समुदाय
के लिए ही नहीं हैं''
--उन्होंने हमें देशद्रोही साबित किया
बड़ी कुटिल चतुराई से हमारे 'सिर्फ' को
घोर शंख ध्वनि से दबा दिया
और ''नहीं हैं'' को
कई पाठों में प्रस्तुत कर
हमारा मंतव्य बता दिया...
भरी सभा में पुकारा
'ये देश के लिए नहीं है...'
उनके प्रमाण में थी हमारी ही आवाज
हमारे ही खिलाफ
एक पाठ में गूँजी-

‘नहीं हैं’
पीछे से सियारों की टोली थी-‘नहीं हैं’
‘‘ये धर्म-सम्प्रदाय-समुदाय के लिए नहीं हैं’’
एक और पाठ में फिर हमारा असहाय
‘नहीं हैं’
सियारों का कोरस -‘नहीं हैं’
हम अपने सिर्फ की तलाश में
भटके जंगलों में, खोए अज्ञातवास में
यही उनकी जीत थी...
जो प्रचारित हुई कि
यह हमारी हार थी
क्या करें अदालत भी लाचार थी...
हमारी अनुपस्थिति को
कुबूलनामा मान लिया गया...

हमारे कहे में अपने अर्थ गहते हैं
वे जब भी हमें देशद्रोही कहते हैं।

सवेरे उठे से रात के सोये तक
वे देशभक्ति का छद्म गढ़ते हैं
और परकोटे पर चढ़कर
किसी पर भी देशद्रोह मढ़ते हैं
लेकिन जब भी वे
हमें देशद्रोही कहते हैं
हम पाते हैं कि हमारी संख्या
कुछ बढ़ी है
यानी उनकी देशभक्ति के खांचे में
कुछ और भावनाएँ भी आने से रही हैं
हमने देखा कि
कितना छोटा है उनका देश
और यह तो लगातार
छोटा ही होता जा रहा
जब हम उनके देश-से दिखे
उन्होंने नकारा-
‘नहीं इसकी राष्ट्रीयता दूसरी है’
राष्ट्रवालों को विलगाया धर्म के नाम पर
धर्म वाले अछूत थे जाति से

जात की भाषा भी एक
नहीं हो पा रही थी
हर बार देश की
सीमा कुछ और
छोटी हुई जा रही थी

हमने देखा
वे जब-जब हमें देशद्रोही
जता रहे होते हैं
एक सांकेतिक भाषा में
अपने साये को
मुकम्मल देश बता रहे होते हैं.....

पत्थर

यह बहुत बाद में जाना
कि एक खास किस्म के पत्थर
तैरते रहे पानी में
और साबित करते रहे तुम्हारा नाम
करवाते रहे मुनादी कि
डूबते को भी उबारना रहा
तुम्हारा काम

लेकिन देखा किया ऐसा भी
पत्थर ऐसे भी थे
जो दूसरों को भी बनाते रहे पत्थर
तो गले में बंध गए डूबते वक्त

कुछ तो जोर लगा कर
खुदवाते रहे छाती पर
तुम्हारा नाम
और गिरते रहे अविराम

डूबते रहे खुद भी
डुबाया औरों को भी
साथ ही तुम्हारा नाम
उबार लो
जो उबार सको

हे राम!

अकेले तो एक मौत तक नहीं आती

क्या आपको लगता है
अपने गमछे में लटका किसान
मरा है अकेलेपन में
अकेले-अकेले

अकेला रहता तो कभी नहीं मरता यूँ
वह जीता रहा था
कई-कई उम्मीदों को सहारा दिये
और कई-कई नाउम्मीदों से जूझता

अकेले नहीं मरा करता कोई
किसान के पहले मरते हैं उसके बैल
उससे भी पहले मरती हैं फसलें
फसलों से भी पहले मर जाता है
मौसम पर से विश्वास

डसके मरने के साथ दीखते हैं
कई मरे हुए नारे
साँस उखड़ी योजनाएँ
सूख कर अकड़ी हुई संवेदनाएँ

अकेले तो एक मौत तक नहीं आती....।

एकल कुछ नहीं होता

हमारे कार्यक्रम एकल नहीं होते
हमारे गीतों में कुहकते हैं कई-कई कंठ
हमारे नाच में थिरक उठते हैं
कई-कई पाँव
हमारे हँसने से गूँज उठता है
जंगल-मैदान
हमारे क्रोध से खिसक पड़ती हैं
चट्टानें अपनी जगह से

हमें किसी भी मंच पर
अकेले की प्रस्तुति नहीं देनी

हम एक समाज हैं
हम एक समुदाय हैं
किसी एक की पीड़ा
एक की खुशी
एक का प्यार
एक के सपने
सिर्फ एक तक
अपरिचित हैं हमारे लिए
हमारा जीना-मरना, शादी-ब्याह,
काज-परोजन
सामूहिक उत्सव रहे हैं सदा से

धान के तैयार खेत में
हमारी रोपनहारिनें
उतरती हैं झुण्ड की झुण्ड
कोरस में चलते हैं उनके गीत
उनके दुख, उनका प्यार,
उनका विरोध, उनकी कहानी
सभी सम्मिलित हैं उनमें

हमारी गाय-भैंसे-कुत्ते तक
रहते आए हैं साथ-साथ
और सच यही है कि
एकल कुछ नहीं होता

हमारे खेल, हमारे तमाशे, हमारे शिकार
सब साझे होते हैं
और जो तुम अपनी भाषा में
घुसेड़ चुके हो जबरन
शेर के अकेले शिकार का मुहावरा
तो इसकी सच्चाई तो जान गये होंगे
तुम्हारे बच्चे भी
डिस्कवरी चैनल देख-देख
शेर भी शिकार झुण्ड में ही करता है...

हमारा जीना अकेले नहीं हुआ कभी
और सुनो!
हम अकेले मरेंगे भी नहीं
हमारे मरने पर नदियाँ सूख जाएँगी
जल जाएंगे जंगल
मैदान बिंध जाएंगे दरारों से
पर्वत टूट-टूट गिरेंगे एक दूजे पर
और सागर होगा इतना खारा
मानो सब कुछ गलाने के लिए ही बना हो।

संतोष है

मैंने अपने आस-पास देखा खूब
बल्कि हेरा आँखों पर जोर दे
पर एक भी नायक नहीं पाया
महाकाव्य के बीते जुग में
नायकत्व भी विलुप्त
किस्से-कहानियों में
बच रह गए कई प्राणियों-सा

न था कोई उदात्त
गम्भीर की गम्भीरता ओढ़ी हुई लगी
लालित्य बस विज्ञापनों की देन
उद्धतों के रेले में
‘नायक’ शब्द पूँछ भर था
जैसे ‘धीर’ सींग ही हो

जब मैंने कलम पकड़ना शुरू किया
सब ओर
थके-हारे लोग थे
जो हर क्षण जी रहे थे युद्ध
हार रहे थे
जीत रहे थे
पिट रहे थे
पीट रहे थे
उनका कोई एक रस नहीं था
पीछे भाटों का कोरस नहीं था
युद्ध जिनके लिए कोई रोमांचक घटना नहीं
रोजमर्रा जीवन का घिसा-पिटा अंग था

मेरी कलम के आगे चलता रहा
हरदम
जर्जर वह बेपहचाना आदमी
मैं अपनी कविता को
महान नहीं बता सका कभी

संतोष है...

राजाजी की पाद

सही समय पर, सही जगह पर
बैठा राजदरबार
तय था जहाँ ज्वलंत मुद्दे पर
होना गहन विचार

एक से एक चिंतक चिंतनरत
मननशील मनीषी
प्रज्वलित प्रज्ञा संग प्रस्थापित
प्रभापूर्ण पच्चीसी

इधर पदार्पण राजाजी का
उधर खड़ी वागीशा
प्रथम स्तुति राजाजी की
कीर्तिमय चालीसा

लगे ढमकने ढोल सभा में
बाजन लगे मंजीरे
कुछ ओज में तीव्रतर होकर
कुछ गदगद हो धीरे

आरत के स्वर में महा-राष्ट्र के
सकल ज्ञानी विज्ञानी
अपनी श्रद्धा, राजकीर्ति संग
पुलकित होय बखानी

राजाजी ने निज वाणी से
चालित की सुनवाई
लेकिन पूर्व में हल्के ढंग से
अपनी कथा सुनाई

कहा-‘कहूँ क्या‘ मुझ पर हावी
वात प्रकोप है निशि से
उद्धत है वायु निर्गमहित
किसी द्वार किसी दिशि से

शुचि शंख-ध्वनि-सम स्वर में
मानो दिया प्रमाण
साम-गान पश्च मुखश्री पर
थी मोहक मुस्कान
अवसर एक चूक न जाए
उद्धत थे दरबारी
दंडवत कर राजर्षि ने
त्वरित बाजी मारी

‘अहा देवता! धन्य हुए हम
तव अपान वायु से
निश्चय ही अब खिल जाएँगे
सब नूतन आयु से

निःसंदेह, है संजीवनमय
यह अपान राजन का
जय हो देव! भला होगा अब
राष्ट्रवासी जन-जन का!’

साधु! साधु! कह विदा हुए सब
उद्भट राजदरबारी
सार्थक हुआ सभा में आना
सार्थकता बलिहारी

भांड झोंकते रहे पूर्ववत
वाद-विवाद-संवाद
राष्ट्र भर में व्याप्त सुरभिमय
राजाजी की पाद!

नामः अस्मुरारी नंदन मिश्र
जन्मः 26 अगस्त 1983, बिहार के नवादा जिले में
शिक्षाः हिन्दी में स्नातकोत्तर, बी.एड.
सृजनः हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। एक काव्य-संग्रह ‘चाँदमारी समय’ बोधि प्रकाशन से प्रकाशित।
सम्प्रतिः केन्द्रीय विद्यालय, दानापुर कैंट (बिहार) में अध्यापन
संपर्कः टीजीटी (हिन्दी), प्रथम पाली, केन्द्रीय विद्यालय, दानापुर केंट, पटना-801 503
मोबाइलः 09798718598
ई-मेलः asmuraribhu@gmail.com

कहानी

सड़क

देवांशु पॉल

शहर को स्मार्ट सिटी बनाया जा रहा है। सड़के तोड़ी जा रही है। सिर्फ जर्जर सड़क ही नहीं अच्छी सड़कें भी तोड़ी जा रही है। सड़कों को चौड़ी करने के लिए सड़क के दोनों किनारों की दुकाने तथा वर्षों पुराने छायादार पेड़ काटे जा रहे है। बड़े-बड़े शहरों से मंगाई गई बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा सड़क निर्माण का कार्य तेजी से चल रहा है। बारिश का मौसम आने में केवल दो ढाई महीने ही बचे हैं। पीडब्ल्यूडी के इंजीनियर एवं ठेकेदार स्थल पर खड़े होकर मुस्तैदी से काम करा रहे है। कलेक्टर का सख्त आदेश है कि काम तेजी से चलना चाहिए और समय पर पूरा होना चाहिए।

सड़क किनारे जहॉ दुकाने तोड़ी जा रही थी,वे सुबह से ही पीड़ित परिवार की महिलाएँ एवं बच्चे भूखे पेट धरने में बैठे हैं। धूप तेज थी। बच्चे चीख रहे थे। गर्मी से लोग हलाकान हो रहे थे। लोग विरोध में एकजुट होकर प्रदर्शन कर रहे थे। शासन-प्रशासन के खिलाफ नारे बाजी कर रहे थे। सड़क के उस पार जहॉ कटे हुए पेड़ जमीन पर गिराया जा रहा था वहॉं लोग पर्यावरण के नष्ट होने के खिलाफ पूरजोर विरोध कर रहे थे। उनके झण्डे का रंग हरा और उसमें एक विशाल वट वृक्ष का पीले रंग का चित्र बना हुआ है। थोड़ी ही दूर पर राजनीति करने वाले क्षेत्रीय पार्टी के नेतागण एकजुट होकर शासन-प्रशासन की इस कार्यवाही के खिलाफ कड़ी निंदा कर रहे थे और नारे लगा रहे थे- ''सरकार मुर्दाबाद, हाय-हाय''। वे नेता जो अक्सर इसी सड़क पर अपनी लक्सरी कार में चला करते थे, कभी सड़क के किसी गड्ढे का झटका महसूस नहीं किया, वे नेता आज सड़क के गड्ढे में मलबे के बीच बैठकर अपनी आवाज ऊँची कर रहे थे। ऐसा दृश्य पहली बार शहर में देखने को मिल रहा था।

कुणाल चक्रवर्ती मेरे मित्र है। वे शहर से निकलने वाले नामी-गिरामी अखबार समूह के लोकप्रिय अखबार के युवा पत्रकार है।

उस शाम हम दोनों एक रेस्टोरेंट में बैठकर कॉफी पी रहे थे और शहर की सड़कों के तोड़े जाने एवं पेड़ काटे जाने पर अपने-अपने विचार शेयर कर रहे थे। कुणाल कह रहा था- ''अरे यार तुम कैसी बातें कर रहे हो। शहर का विकास अगर होना है तो सड़कें चौड़ी करनी पड़ेगी, पेड़ कटेंगे, आस-पास की दुकाने तोडी जायेगी, अवैध झुग्गी बस्ती हटायी जाऐंगी। कुछ महीने के लिए आम लोगों को चलने फिरने में परेशानी होगी फिर उसके बाद सब कुछ सामान्य हो जायेगा.....''।

मैंने उसकी तरफ देखकर कहा-''जिन पेड़ों को काटा जा रहा है वे पेड़ आज के नहीं है। वे छायादार पेड़ सत्तर-अस्सी साल पुराने हैं। उनकी जड़े जमीन के नीचे दूर तक फैल गई है। वे केवल छायादार पेड ही नहीं बल्कि प्रदूषण से बचाव के लिए उन पेड़ों का रहना बेहद जरूरी है.....''।

-''उन कटे हुए पेड़ों के बदले उतनी ही संख्या में नये पेड़ लगाये जा रहे है.....''। कुणाल ने मुझे समझाने की कोशिश की। मैंने उसकी बातों पर असहमति दर्ज करते हुए कहा-''लेकिन जो पेड़ लगाये जा रहे है वह पेड़ न तो छायादार है और न ही प्रदूषण को रोकने वाले है। वह नीलगिरी के पेड़ हैं। उन पेड़ों को पानी की जरूरत नहीं पड़ती लेकिन वे पेड़ आस-पास के इलाके के पानी को जमीन के नीचे से खींच लेते है.....''।

कॉफी की चुस्की लेते हुए कुणाल अपनी गोल्डन फ्रेम का चश्मा जो उसके नाक के सामने उतर आया था, उसे अँगुलि से उपर चढ़ाते हुए मेरी तरफ देखकर कहने लगा?--तो क्या सड़के चौड़ी नहीं होगी, क्या हम शहर वाले इसी सकरी सड़क पर चलते रहेंगे और रोज-रोज ट्रेफिक के जाम में घंटो फंसे रहेंगे। क्या तुम यही चाहते हो.....?''

-''मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ। पिछले साल भर से तुम यह देख रहे हो शहर के लोगों का घर से निकलना मुश्किल हो गया है। पूरे शहर में सिवरेज की खुदाई चल रही है। गड्ढे को रेस्टोरेशन करके उसे पहले जैसा बनाने के बजाय ठेकेदार द्वारा केवल मिट्टी और मुरूम पाटकर छोड़ दिया जा रहा है। इसके चलते सड़कों पर फिर जगह-जगह गड्ढ़े दिखने लगे हैं। सीवरेज की पाइप लाइन डालने के नाम पर ठेकेदार केवल सड़क की खुदाई करने में जुटे है। बारिश में इससे सड़क के भी धसने का सर्वाधिक खतरा है। ठेकेदार के घटिया काम के कारण सड़क की स्थिति खराब है। सड़क के दोनों तरफ की दुकाने और झुग्गियाँ तोड़ी जा रही हैं। उनमें रहने वाले परिवार के सारे लोग बेघर हो रहे हैं। उन बस्ती में छोटे बच्चे महिलाएँ, बूढे एवं बीमार लोग भी होंगे। आखिर यह सब लोग कहॉं जाएंगे.....क्या मुआवजा उन्हें सरकार के द्वारा तुरंत दिया जा रहा है.....? कुणाल सड़क कैसे बनेगी, सीवरेज तथा फोरलेन कैसे बनाए जाएंगे यह सब बातें बहस का मुद्दा नहीं है। शहर का विकास याने की सबका विकास इसलिए जरूरी है शहर के सभी वर्ग के लोगों से अपनी राय लेनी होगी तब हम एक बेहतर हल निकाल सकते है.....''।

यह कहकर खुद को कुर्सी से अलग कर मैं खड़े हो गया और बची हुई कॉफी एक ही घूंट में पी गया। कुणाल भी खड़े हो गया। हम दोनों साथ-साथ रेस्टोरेंट से बाहर निकल आएं।

दूसरे दिन सुबह अखबार देखा तो सिटी पेज के मुख्य पृष्ठ पर कुणाल की एक रिपोर्ट छपी है। पढ़ने के लिए जैसे ही सोफे पर बैठने लगा तभी मोबाईल की घंटी बजने लगी। देखा तो वह कुणाल का फोन था।

-''हॉं बोलो कुणाल.....''। -''आज का अखबार देखा तुमने.....'' -''हॉं! अभी हाथ में लेकर सोफे पर बैठा हूँ। कोई खास बात है क्या ..... अच्छा चलो पढ़कर फोन करता हूँ.....''। और मैंने फोन काट दिया। अखाबार में कुणाल की छपी रिपोर्टिंग को पढ़ने लगा। सबसे पहले बाक्स की हेडलाईन पर नजर दौड़ायी-'' हर की सबसे व्यस्ततम सड़क लिंक रोड एवं तारबहार चौक से नेहरू चौक तक जो सड़कें तोड़ी जा रही है। उन सड़कों के दोनों ओर ४४ दुकानों के मालिक को मुआवजा दिया जायेगा। एवं तीन सौ चालीस काटे गये छायादार पेड़ों को शहर के बाहर अरपा नदी के तीर पर लगाए जाने की घोषणा जिला कलेक्टर ने किया है.....''।

बाक्स में छपे समाचार को पढ़ने के पश्चात् मुझे कुणाल की रिपोर्टिंग को और आगे पढ़ने की इच्छा नहीं हुई। सोचा कि उसे फोन कर बधाई दे दूँ कि तुमने अखबार में अच्छा-खासा सरकार के स्मार्ट सिटी बनाने की घोषणा का जबरदस्त प्रचार किया है। सरकारी विज्ञापन की तरह तुमने यह बताना जरूरी समझा कि स्मार्ट सिटी बनने से शहर के लोगों को क्या-क्या फायदा है। मुआवजा देने की घोषणा की बात तुमने लोगों को बतायी। यह भी तारिफे काबिल है। न चाहते हुए भी मैं उसकी पूरी रिपोर्टिंग पढ़गया। पुरानी और आज के अखबार की बात करें तो सब कुछ बदला-बदला सा नजर आता है। तकनीक में मीडिया खूब आगे बढ़गया है लेकिन साख और विश्वसनीयता में बहुत पिछड़ गया है। समाचार और मनोरंजन के बीच का फर्क ही मिट गया है। आम आदमी की आवाज बुलंद करने के बजाय मीडिया का बड़ा हिस्सा--''सरकारी भोपू'' बनकर रह गया है। एक जमाना था जब अखबार सरकार की मुद्दों पर आधारित बातों पर जमकर आलोचना करते थे। आज निष्पक्ष, निर्भिक एवं स्वतंत्र पत्रकारिता और उसके मूल्यों पर खूब हमले हो रहे हैं। जबकि जनता की आवाज को शब्दों के माध्यम से जनता के बीच रखना पत्रकारिता का मूलमंत्र है। अखबारों में खबरों से कहीं ज्यादा विज्ञापन होते हैं। पाठक प्रतिदिन चार रूपये का अखबार खबर पढ़ने के लिए खरीदता है ना कि विज्ञापन के लिए। इन दिनों अखबारों में विज्ञापन, वास्तव में मीडिया का एक प्रभावशाली जरिया बन गया है। इसी कारण अधिकांश अखबार सामाजिक महत्व के समाचारों से ज्यादा सरकार की लोकप्रियता की खबर तटस्थ होकर प्रकाशित करते हैं। हर दिन सरकार की किसी न किसी घोषणा या उपलब्धि के अलावा नेताओं के जन्मदिन, पार्टी में पद में आना, बच्चों की शादी, विदेश यात्रा या किसी योजना के शिलान्यास अथवा किसी शासकीय कार्यक्रम का उद्घाटन व अन्य आयोजन की सूचना पूरे पृष्ठ में दी जाने लगी है। कुछ समाचार ऐसे भी छपते है जो सरकारी विज्ञापन जैसे लगते है। जैसी आज कुणाल की रिपोर्टिंग।

दूसरे दिन लिंकरोड तारबहार नाका चौक जिस सड़क पर यह तोड़-फोड़ का कार्य चल रहा था मुझे सुबह उसी सड़क पर से दफ्तर जाना होता है। चौक के पास पहुँचते ही देखा सड़क पर जाम की स्थिति बनी हुई है। कुछ लोगों से पूछा तो पता चला कि साइकिल से स्कूल जाती एक तेरह-चौदह साल की लड़की बड़ी मशीन की चपेट में आने से उसकी घटनास्थल पर ही मौत हो गई है। यह सुनकर मैं स्तब्ध रह गया । कुछ पल के लिए मुझे कुछ भी नहीं सूझा। बस अपनी स्कूटर पर बैठा रहा । तभी भीड़ में से आस-पास के लोगों की बातें सुनाई पड़ी-''यह तो होना था, आज नहीं तो कल.....''। मुझे लगा कि मैं इस क्षण मेरे मित्र कुणाल से यह सवाल करू कि इस हादसे में मारी गई बच्ची के मॉ-बाप को मुआवजा के लिए सरकार ने कितने रूपये देने की घोषणा की है। लेकिन न जाने क्या सोचकर मैंने फोन नहीं किया। भीड़ बढ़ती जा रही थी। मुझे लगा कि अब इस सड़क से निकलने में काफी मुकिलें होगी। और मैंने स्कूटर दूसरी तरफ मोड़ ली। वह रास्ता कच्चा जरूर था लेकिन सुरक्षित था। इस रास्ते पर भारी वाहन का चलना मना है। इसलिए जान को किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं है।

भाम के वक्त जब मैं नेहरू चौक के पास से गुजर रहा था वहॉं भी सड़क तोड़ने का काम जोरों से चल रहा था। चौक के पास बड़े-बड़े फोकस लाइट लगाये गये थे। जिससे यह मालूम हो रहा था कि काम देर रात तक चलने वाला है। नेहरू चौक के पास एक राजनेता की प्रतिमा जिसे वहॉं से हटाये जाने का काम चल रहा था। यहॉं पर फोरलेन बनाने की योजना है। यह सड़क सीधे रायपुर से निकलकर जबलपुर मार्ग तक जाना है। काफी मजदूर उस पत्थर की प्रतिमा को सड़क के किनारे रखने के काम में लगे थे। सड़क के किनारे शहर का सबसे बड़ा नाले का भी चौड़ीकरण का काम चल रहा था। सिवरेज के काम के लिए नाले के पानी को रोका गया था।

इस दृश्य को देखकर मैं यह सोच रहा था कि जब शहर को स्मार्ट सिटी बनाने में सरकार का करोड़ो रूपये खर्च हो रहा है ऐसे में अगर नेताजी की नयी प्रतिमा स्थापित करने में थोडा और खर्च बढ़जाता तो क्या होता। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। नेताजी के प्रतिमा को संभालकर उसे सड़क के किनारे सिवरेज के खुदाई से थोड़ी दूर पर सुरक्षित जगह पर रखने का काम चल रहा था। उस रात शहर में आँधी-तूफान के साथ तेजी से बारिश हुई। शहर के कई हिस्से, पानी में डूब गये। खोदे गए सड़क के गड्ढ़े में पानी भर गया था। सुबह लोगों को उस सड़क पर चलने में काफी मुश्किल हो रही थी। दफ्तर पहुँचा तो यह बात चर्चा में थी कि नेताजी की प्रतिमा को नाले के खोदे गए जगह से थोड़ी दूर सुरक्षित जगह रखा गया था, वहॉं कल रात के मुसलाधार बारिश और आँधी तूफान की वजह से नाले का पानी भर गया था। उफनते नाले का गंदा पानी इतनी तेजी से बह रहा था कि नेताजी की पत्थर से बनी प्रतिमा को बहा लेकर सिवरेज के गड्ढ़े में गिरा दिया। जिसे देखने के लिए लोगों की अच्छी भीड़ इकठ्ठा हो गयी थी। यह सुनकर मैं सकते में आ गया। आखिर लोगों को और क्या क्या देखने व सुनने को मिलेगा इस शहर को स्मार्ट सिटी बनाने के लिए।

उस दिन मैं मंदिर चौक से निकल रहा था। शहर की सारे यात्री बसें इसी चौक पर रूकती है। चूँकि भाहर की बस स्टैण्ड शहर से दूर है इसलिए लोगों को यहॉं उतरने/चढ़ने में सुविधा होती है। इस चौक के पास ही एक पुराना हनुमान जी का मंदिर है। अतिक्रमण के चलते जिला कलेक्टर ने इस मंदिर को तोड़ने का आदेश दिया था। चूँकि यह मंदिर बहुत पुराना है लोगों की आस्था इससे जुड़ी है। अनेक धार्मिक अनुष्ठान इस मंदिर में हुआ करते है। मंदिर तोड़ने की बात शहर में तेजी से फैल गई। मंदिर के पुजारी एवं मंदिर के संचालक मण्डल के लोग मंदिर तोड़ने के विरोध में सड़क पर धरने में बैठ गए। इससे शहर का वातावरण गर्माने लगा था। यह देखकर प्रशासन ने थोड़ा सा नरमी का रूख अपनाते हुए लोगों को यह आश्वासन दिया कि इस मंदिर का सड़क से तीस-पैंतीस फीट दूरी पर खाली जगह पर निर्माण किया जायेगा। इस पर भी लोगों का गुस्सा शांत नहीं हुआ। बल्कि वे कुछ ज्यादा ही उग्र हो उठे थे। यह देखकर प्रशासन ने मंदिर तोड़ने का कार्य सख्ती से करने लगे। दूसरे दिन सुबह से ही काफी संख्या में पुलिस बल, कलेक्टर, जिला प्रशासन विभागों के अधिकारी स्थल पर खड़े होकर मंदिर तोड़ने का काम जोरों से कराने लगे। कुछ लोगों ने हिंसा फैलाने की कोशिश की, पुलिस वालों ने उन्हें अपने गिरफ्त में लेकर जेल में डाल दिया। दूसरे दिन अखबार का एक समाचार पूरे शहर में आग की तरह फैल गया है कि एक बुजुर्ग श्रद्वालु ने मंदिर चौक पर तोड़े गये स्थल के पास पेड़ में फांसी लगाकर आत्महत्या कर ली है। उसके गेरूआ रंग के कुर्ते पर लिखा हुआ था कि ''मंदिर को न तोड़ा जाए .....''। बुजुर्ग की मौत के बाद चौराह पर हिंसा भड़क उठी। आखिर पुलिस प्रशासन को मजबूर होकर प्रतिबंधित क्षेत्र में 144 धारा लागू करनी पड़ी। कुछ दिनों के बाद मंदिर तोड़ने का काम जोरों से शुरू हो गया।

एक दिन अखबार में खबर छपी वैसे तो अखबार में सिवरेज पर खबरें रोज छप रही है लेकिन कभी-कभी कुछ समाचार मन के भीतर तक गहरे घाव छोड़ जाते है। खबर यह छपी थी कि आठ-दस साल का बच्चा रात में वृहस्पति बाजार चोक के पास सिवरेज के गड्ढ़े में गिर जाने से उसकी मौत हो गई। जो सिवरेज के काम कर रहे है मजदूर परिवार के उस बच्चे की शाम से ही लापता होने की खबर थी। सुबह जब लाश निकाली गयी तब बच्चे की शिनाख्त पुलिस वालों ने की। उसी चौक पर शहर के वरिष्ठ साहित्यकार, पत्रकार रहते हैं। सुबह जब मैं अखबार में यह दुखद घटना की खबर पढ़ी और फोन पर उनसे घटना की चर्चा की तब उन्होंने बेहद अफसोस जाहिर करते हुए कहा कि शहर में जिस तरह से सिवरेज का काम जनता की सुरक्षा व्यवस्था के बिना चल रहा है यह निश्चय ही चिंतनीय है। विकास का कार्य होना ठीक है लेकिन विकास के नाम पर शहर की जनता को परेशान करना उचित नहीं है। शहर में ऐसे अनेक सिवरेज के गड्ढ़े देखने को मिलते है जिसे खोदने के पश्चात् उसे खुला ही छोड़ दिया जाता है। सुरक्षा की दृष्टि से उस गड्ढ़े के चारों तरफ घेरा लगाने की व्यवस्था होनी चाहिए। जो कि नहीं होती है और इसी वजह से आये दिन बड़ी-बड़ी दुर्घटनाएँ होती है, जिससे लोगों की जाने जा रही है। लेकिन फिर भी प्रशासन चुप्पी साधे बैठा रहता है।

प्रशासन की कड़ी व्यवस्था के बीच उस दिन ईदगाह चौक के पास बेजा कब्जा वाले मकानों को तोड़ा जा रहा था। यह चौक बड़ा ही संवेदनशील है। यहॉं के अधिकतर मकानों में मुस्लिम परिवार के लोग रहते है। उस दिन बेजाकब्जा वाला एक मुस्लिम परिवार के मकान तोड़ा जा रहा था। कई मुस्लिम परिवार के लोग विरोध में खड़े हो गये, वे लोग प्रशासन के लोगों पर चीख रहे थे चिल्ला रहे थे। तभी एकाएक एक मुस्लिम महिला के जबान से यह बात निकल पड़ी कि- ''हम मुस्लिम लोगों का ही घर तोड़ा जा रहा है हिन्दुओं का नहीं.....क्या हम हिन्दुस्तानी नहीं है.....''। इस बात पर बवाल खड़ा हो गया। देखते ही देखते हिंसा फैल गई और बाद में पूरे शहर में दंगा भड़क उठा। दंगे को शांत करने में पुलिस प्रशासन को काफी मशक्कत करनी पड़ी, तभी आधी रात के बाद दंगाई शांत हुए। छुट-पुट घटना के अलावा किसी की जान जाने की कोई खबर इस दंगाई समाचार में नहीं थी। लेकिन अफसोस जिस मकान को तोड़ा जा रहा था उस मकान के सबसे वयोवृद्व को मकान टूटने से जो मानसिक आघात पहुँचा जिसके कारण उनकी तबियत इतनी बिगड़ गई कि उन्हें आधी रात अस्पताल में भर्ती कराया गया। सुबह उनकी मौत हो गयी।

देर रात तक मैं बिस्तर पर लेटा-लेटा यह सोचने लगा था कि विकास शब्द हमारे जीवन में कैसे और कहॉं से आया। दरअसल यह शब्द अंग्रजी के डेवलपमेंट का ही अनुवाद है। किसी भी स्वस्थ समाज में डेवलपमेंट तभी संभव हो सकता है जब आप वहॉं की समस्याओं को दूर करेंगे। आम लोगों की समस्याओं को नजर अंदाज कर शहर का विकास संभव नहीं है। शहर को स्मार्ट बनाने से पहले भाहर की तमाम असुविधओं को भी देखना समझना होगा।

कुछ महीने के बाद जब यह शहर स्मार्ट सिटी बन जायेगी। और लोग फोरलेन तथा सिवरेज के गड्ढ़े के उपर बनी सड़कों पर चलने लगेंगे तब किसी को यह याद नहीं आयेगा कि इस सड़क को बनाते समय शहर में क्या-क्या हादसे हुए थे और इन हादसों में कितने परिवारों को क्या-क्या नुकसान उठाना पड़ा हैं। क्या सरकार के किसी खाते में इन परिवार वालों के नफा-नुकसान का आंकड़ा भी लिखा जायेगा ?

गायत्री विहार,विनोबा नगर, बिलासपुर छ.ग. 495004
मो0 नं0 09907126350
EMAIL- dewanshupal@gmail.com

कविताएँ

दुर्गाप्रसाद झाला

बच्चे

मुझे बच्चा बना दो ना!

बच्चा देखता है आसमान
और उसके सूरज-चाँद-सितारों को
उतार लाता है अपने आँगन में
उनसे बातें करता है वैसे ही
जैसे अपनी माँ से!

घर की देहरी के भीतर
घर की देहरी के पार
बच्चा किलकारी भरता है
और उसकी किलकारी
सारे वन-पर्वतों को चीरती हुई
पूरे आसमान की गूंज बन जाती है!

बच्चे की भाषा में
फूल बोलने लगते हैं
तितली के पंखों की आवाज
कानों में रस उँडेलने लगती है
भँवरों का संगीत
सरोवर-सा लहरा उठता है
आसमान को अपनी भाषा मिल जाती है
और कोई दीवार
उस भाषा को रोक नहीं पाती!

बच्चा मुस्कुराता है
और उसकी मुस्कान
आकाशगंगा-सी छहर उठती है
काली अँधेरी गुफाएँ
सुनसान बनी रहती हैं
अपनी प्रेत-छायाओं से आक्रांत!
लेकिन सारा आसमान
चाँदनी-सा झिलमिला उठता है!

बच्चा अक्सर-अक्सर
परियों की पीठ पर सवार होकर
एक असीम यात्रा पर निकल पड़ता है
और सारे देवदूत अपनी-अपनी पलकें
उसके रास्ते पर बिछा देते हैं!

बच्चा मेरे पास होकर भी
मुझसे कितनी दूर है!

बच्चे!
मुझे बच्चा बना दो ना!

मैं खोज में हूँ...!

मैं खोज में हूँ
उस शब्द की
जो धरती की कोख से
पैदा हुआ हो,
जिसे एक चिड़िया
अपने रोमिल पंखों पर
बिठा कर
कभी-
उस घर
फुदकती हुई
'चीं-चीं' कर रही हो!

मैं खोज में हूँ
उस शब्द की
जो बमों के धमाकों के धुओं को
चीरता हुआ
ताजी-खुली हवा में
मगन मन
एक तुतलाते-मुस्कुराते
बालक के
रस-भींगे होठों पर
रह-रह
फड़क रहा हो

मैं खोज में हूँ
उस शब्द की
जिसमें सुनायी दे रही हो
आवाज
उस माँ की
जो अपने खोये बच्चे को
ढूंढने
दर-दर
शहर-शहर
जंगल-जंगल
भटक रही है
और जाने क्या...क्या...
बड़बड़ा रही है!

हाँ,
मैं खोज में हूँ
उस शब्द की
जो कम-से-कम
मुझसे तो/मेरी
पहचान करा दे!!

'सृजन', 19, स्टेशन रोड, शाजापुर (म.प्र.)456001
दूरभाष - 07364-228837 मो.9407381651

रोज़लीन

छाया-देह से पार

नर्म...
गिलगिली अरुण हथेलियां
जाने किस ओर से निकल आई,
मोम सी टपकती
रबड़ की भांति बढ़ती
घुस गई मेरी छाया में
...छाया-देह से पार
एक अहसास ने
ढूँढ लिया मुझे

एक उथल-पुथल से कंपित
हो उठा अस्तित्व
मोम की बिगड़ैल नदी
प्रखर वेग से गुजर गई
मुझ पर

अब जब कभी
सख्त हो जाऊँगी
एक ताप उतरेगा मेरे भीतर
-छुएगा, झुलसाएगा, पिघलाएगा
हर बार
मुझे मिटाने के लिए।

फांस चुभती है

कुछ है कि -
शब्दों का रेशमी जाल
बोदा हुआ जाता है
तो भी वह नाजुक छुअन
रह जाती है तह में

उजास कणिकाएं धूप की लें
कोई खुरदरे हाथों से
मुट्ठी भर सौरभ गांठ मार
गिरा गया बादामी आंचल
उघड़े कांधों पर
कि फांस सी चुभती है रह-रह कर,
अलक बिखरी है चांदनी रात में फिर
ओह...
अब वो अजनबी
दिखाई क्यों नहीं देता।

535 गली नं.7 कर्ण विहार मेरठ रोड, करनाल 132001
मो :9467011918

अशोक गीते के दो गीत

उम्र केलैण्डर

हर पल, हर क्षण,
समय निकले तत्पर।।
दर्पण बताये
मन के भाव।
जीवन में तो,
रहे अभाव।
हर साल बदलें,
उम्र केलैण्डर।।

पाँव-पाँव में
पड़ी बिवाई।
डगर-डगर पर,
शूल चटाई।
आगे बढ़ना,
होता दूभर।।

धुंध भरे ये,
दिन है बीते।
निर्माणों के
हाथ है रीते।
झरे देह से,
अब श्रम-सीकर।।

फैला है ज़हर

बिना थके,
चलता है शहर।।
भीड़, कोलाहल,
और भागमभाग।
कहीं जुलूस नारे,
कहीं लगी है आग।
कहीं बनते महल है,
तो कहीं टूटते घर।।
कहीं किर्तन, कहीं नर्तन,
कहीं मंदिर के जयगान।
कहीं गुरुग्रंथ-वाणी,
कहीं होती है अजान।
रुकना सीखा ना शहर,
दिन हो या रात भर।।
दौड़े गाड़ी गूँजें आवाजें,
कोई घायल बिखरा खून।
मेहनत करते कहीं दौड़ते,
कहीं चढ़ा है जुनून।
फैला प्रदूषण साँसे फूली
चारों और फैला है ज़हर।।

194, सांई सदन, रामनगर-450001
मोबाइल : 9753334219

जहीर कुरैशी की दो ग़ज़लें

//1//

साम्प्रदायिकता कभी समझी नहीं,
भूख मज़हब देख कर लगती नहीं!
वो जो धंधा कर रही है प्यार का,
उसके चेहरे की हँसी असली नहीं।
मन के अंदर कुछ तो बाकी है अभी,
उसने पूरी बात उगली ही नहीं।
एक पल को दम तो लेने दीजिए,
नाचने वाली कोई तकली नहीं!
लोग करना चाहते हैं ऐसी बात,
वो जो सच्ची हो, मगर, कड़वी नहीं।
जागती आँखों के सपने सच किए,
नींद के सपनों में वो उलझी नहीं।
तुम ज़रा-सी बात पर मरने चले?
जिन्दगी इतनी अधिक सस्ती नहीं!

//2//

बहुत संक्षिप्त बानी हो रही है,
सफर में सावधानी हो रही है!
समापन अब तो करना ही पड़ेगा,
बहुत लंबी कहानी हो रही है।
जमाई ढूँढने लगती है आँखें,
अगर बिटिया सयानी हो रही है।
जुड़े हैं तार क़ातिल से पुलिस के,
'रपट' से छेड़खानी हो रही है!
'रिटायर' हो के अपने गाँव लौटे,
बुढ़ापे में किसानी हो रही है।
है उस दुल्हन के पति का नाम 'राजा'
वो इस कारण भी 'रानी' हो रही है!
ये दोहरे मानदंडों का समय है,
अनैतिक बुद्धिमानी हो रही है।

108, विलोचन टॉवर, संगम सिनेमा के सामने, गुरुबक्श की तलैया पो.ऑ.जी.पी.ओ.भोपाल-462001 (म.प्र.)
मो: 94257-90565

पुस्तकें मिलीं

कोहरे में सुबह (कविता संग्रह)
ब्रजेश कानूनगो
बोधि प्रकाशन, जयपुर
मूल्य रू.120/-

शेक्सपियर वाया प्रो.स्वामीनाथन (संस्मरण)
कांतिकुमार जैन
अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 10032
मूल्य रू.250/-

पर्वतों का अंत : संगीत
(हिमांशु जोशी : रचना यात्रा)
डॉ.चंदर सोनाने
ज्ञानगंगा प्रकाशन, दिल्ली 110006
मूल्य रू.250/-

चांदनी रात में उड़ते बगुले (लघु कविता संग्रह)
रूप देवगुण
सुकीर्ति प्रकाशन, कैथल 136027
मूल्य रू.295/-

रचना प्रक्रिया विमर्श
डॉ.भूपेन्द्र हरदेनिया
प्रकाशक : राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर
मूल्य रू.400/-

परिंदे पूछते हैं (लघुकथा विमर्श)
अशोक भाटिया
लघुकथा शोध केन्द्र भोपाल
मूल्य रू.100/-

बहर से बाहर (ग़ज़ल संग्रह)
रामकिशोर मेहता
राहुल प्रकाशन, अहमदाबाद 382418
मूल्य रू.80/-

जोखिमों के घेरे में (काव्य संग्रह)
रामकिशोर मेहता
प्रकाशक : उद्भावना, गाजियाबाद
मूल्य रू.125/-

समकालीनता की परिभाषा में काल नहीं स्थितियाँ प्रमुख हैं.

(संदर्भ में ब्रजेश कृष्ण द्वारा अनुवादित, अन्तोव चेखव की कहानी)

सन् १८६० में जन्मे और सन् १९०४ में मृत्यु को प्राप्त अन्तोव चेखव ने अपने अल्प साहित्यिक जीवन में जो भी महत्वपूर्ण रूप से लिखा, वह सब अपने समय के सापेक्ष होते हुए आज भी समकालीन लेखन की परिधि में ताजा और सामयिक है। ऐसी विशिष्टता बहुत कम लेखकों को हासिल हो सकी है। चेखव की लेखकीय दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति और उसके मनोभावों में निरन्तर बदलावों को तीक्ष्णता से परखने और सहानुभूति पूर्वक समझने की जो सलाहियत है, वही उन्हें एक गहरा संवेदनशील रचनाकार बनाती है और काल की सीमाओं को लांघकर उनकी तमाम रचनाएँ समकाल के साहित्य में सहजता से शुमार हो जाती हैं। समकाल को केवल शब्दार्थ में ना लेकर चल रही स्थितियों के परिपेक्ष्य में साहित्य के उस उद्यम को ध्यान में रखना होता है जो तब से आज तक अपने एजेन्डा के कारण सामयिक है और इसी कारण इस समय के एक सामान्य पाठक को भी गहरे से छूता है। 'क्लर्क की मौत', 'गिरगिट', 'वान्का', 'वार्ड नं. छह', 'तितली' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ इस बात के जीवंत उदाहरण हैं।

जो एक बात खास तौर पर समझने में आती है कि चेखव की कहानियों में करूणा और विट का ऐसा अद्‌भुत सामंजस्य है जो एक तरफ मार्मिक संवेदनशीलता से दिल को ओर-छोर विगलित और विक्षुब्ध करता है तो वहीं सामान्य स्थितियों से उपजता अनोखा विट देर तक गुदगुदाता है। यह दोधारी तलवार का अनूठा रचनात्मक उपक्रम इसलिए ही महत्वपूर्ण बन पाता है क्योंकि वह उन सारे सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक संदर्भो में निहित दृश्य-अदृश्य यथार्थ के रेशे-रेशे को खोलकर सामने रख देता है जिन्हें पाठक अपने आस-पास की दुनिया से आसानी से जोड़कर रचना से एकात्म कर पाता है। यहाँ वह जटिलता नहीं है जिसे साहित्य का एक स्कूल, लेखन की अनिवार्य शर्त मान बैठा है। चेखव को मनुष्य की प्रकृति, उसकी भीतरी-बाहरी बनावट, उसमें होने वाले नियमित और आकस्मिक परिवर्तनों और विभिन्न स्तरों तथा समय पर उद्‌घाटित होने वाली उसकी मन:स्थितियों का उनकी विचित्रताओं और अगम्यता के साथ, गहरा बोध है, इसके साथ ही मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रतिबद्ध लेखक के रूप में उनमें मनुष्य मात्र के प्रति अतल तरल सहानुभूति है जिसकी वजह से विकट, विरूद्ध और जोखिम में घिरी लेकिन फिर भी लगभग हास्यास्पद परिस्थितियों में उलझे मनुष्य को उन्होंने ना तो कभी कॉमिक कैरेक्टर में या खलनायक के तौर पर या जुगुप्सा या वितृष्णा पैदा करने वाले पात्र के रूप में प्रस्तुत किया बल्कि सावधानी से वे उन मनोवृतियों का संधान करते चलते हैं जहाँ एक साधारण आम जन अपनी प्रकृति के विरूद्ध कार्य करने के लिए अनायास मजबूर हो जाता है। इस तरह की भावनाओं के कठिन नाटकीय मोड़ों को रचना के स्तर पर कुशलता से संभालकर निबाह ले जाना दुष्कर होता है लेकिन यह चेखव का ही लेखकीय कमाल है कि वे मोमबत्ती के जलते दोनों सिरों को शैलीगत निपुणता और उतनी ही भावप्रवणता से कथा-मन्तव्य में चित्रवत् उकेर देते हैं। यहीं गोर्की की टिप्पणी याद आ जाती है कि 'चेखव अपनी पहली कहानियों में ओछी दुनिया के मनहूस मजाक दिखाने में सफल रहे थे- उनकी कहानियों को जरा ध्यान से पढ़ने पर आप पायेंगे कि हँसी-मजाक भरे शब्दों और स्थितियों के पीछे लेखक ने कैसी क्रूरता और कितनी घिनौनी बातों को बुझे मन से देखा है और संकोचवश छुपाया है।' यह एक महान लेखक द्वारा एक अन्य महान लेखक पर दिया गया वक्तव्य है जिसमें एक कठिन सच छुपा है।

मजे की बात यह कि जैसा कि निर्मल वर्मा ने अपनी बहुचर्चित किताब 'शताब्दी के ढलते वर्षो में' बतलाया है कि '' अपनी कृतियों के संबंध में चेखव ने अपने पत्रों में बहुत कम लिखा है। अक्सर वे मजाक उड़ाते रहते थे। उन्होंने कभी उन्हें अधिक महत्व नहीं दिया, जो बाद में हानिप्रद सिद्ध हुआ क्योंकि जैसा टॉमस मान ने एक जगह कहा है कि चेखव की देखा-देखी उनके आलोचक भी काफी वर्षो तक उनके कृतित्व की उपेक्षा करते रहे। अपने लेखन के संबंध में उनके मन में एक अजीब-सी वितृष्णा और असंतोष का भाव भरा रहता था। कभी-कभी तो वे सोचने लगते थे कि उनकी सब कहानियाँ व्यर्थ और निरर्थक हैं। साहित्य के इतिहास में शायद ऐसे लेखक बहुत कम मिलेंगे जिन्होंने कला को एक नये क्रांतिकारी मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया हो और जो स्वयं अपनी इस महत्वपूर्ण देन के प्रति असंतुष्ट रहे हों !''

समकाल में उन्हें प्रथम प्रणाम करते हुए उनकी शैली की एक विशिष्ट कहानी 'नाई की दुकान' हम आज पढ़ेंगे जिसे ख्यात साहित्यकार ब्रजेश कृष्ण ने अनुवादित किया है। उनका अनुवाद बहुत ही सहज भाषा में किया गया है जिससे लगता ही नहीं है कि किसी विदेशी कृति का अनुवाद पढ़रहे हैं। ब्रजेश जी वैसे तो स्वयं एक लब्ध-प्रतिष्ठ कवि हैं और साहित्य की विभिन्न विधाओं के गहरे अध्येता भी लेकिन वे अपने आप को यहीं तक सीमित ना करते हुए अन्य सर्जनात्मक गतिविधियों को भी प्रमुखता देते हैं और इस आशय से वे विदेशी साहित्य के अनुवाद को एक विशेष जिम्मेदारी के तौर पर लेते हैं क्योंकि उनका मानना है कि हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के चारों ओर की खिड़कियाँ निर्बाध खुली रहनी चाहिए। आज की व्यावहारिक जरूरतों को देखते हुए हिन्दी को ज्यादा सम्पन्न और समृद्ध बनाने की दिशा में यह एक कारगर कदम है। हमें उनकी इस प्रतिबद्धता को सम्मानपूर्वक लेते हुए एक अहम सबक भी लेना चाहिए यदि लिखने के अलावा हिन्दी-साहित्य के प्रति हम कोई और भी जिम्मेदारी महसूस करते हैं तो.....।

मुकेश वर्मा
मोबाइलः 94250-14166

नाई की दुकान पर

अन्तोव चेखव

हिन्दी अनुवाद : ब्रजेश कृष्ण

सुबह का समय। अभी सात भी नहीं बजे हैं, लेकिन मकर कुज़्मित्व ब्ल्योस्त्केन की दुकान खुल चुकी है। तेईस बरस का यह नाई मैले, चीकट मगर भड़कीले रंगों के कपड़े पहने हुए दुकान की सफ़ाई में लगा है। हालांकि वहां करने-धरने को कुछ ज्यादा है नहीं, लेकिन अपनी मेहनत की वज़ह से उसे पसीना आ रहा है। उसने अभी लत्ते एक टुकड़े से एक जगह पर पोंछा मारा है, दूसरी जगह पर उँगलियों से रगड़ा है और फिर कोई कीड़ा पकड़ कर बाहर फेंका है।

दुकान एक छोटे, संकरे और गंदे-से खोखे में है। लकड़ी के लट्ठों और तख्तों से बनी इसकी दीवारों पर कागज़ चिपकाए गए हैं जो किसी कोचवान की बदरंग कमीज़ की याद दिलाते हैं। दो धुँधली और छोटी खिड़कियों के बीच एक सँकरा, चरमराता और झूलता हुआ-सा दरवाज़ा है, जिसके ऊपर नमी की वज़ह से काई जम चुकी है। वहीं एक घंटी लटक रही है जिसके बजने की आवाज़ इतनी बीमार और धीमी है कि किसी का ध्यान उधर जाता ही नहीं। सामने की दीवार पर टंगे दर्पण में झांकने पर चेहरे के नाक-नक्श सभी दिशाओं में बेरहमी से बदले हुए लगते हैं। एक छोटी मेज़, जो उतनी ही मैली और चीकट थी जितना कि स्वयं मकर कुज़्मित्व, पर दुकान का सारा सामान रखा थाः कंघे, कैंचियां, उस्तरे, मूंछें पर लगाने के लिए मोम, पाउडर का डिब्बा, ढेर सारा पानी मिलाए हुए यूडीकोलोन की शीशी। नाई की दुकान के पूरे सामान की कीमत पन्द्रह कोपेक से ज़्यादा नहीं थी।

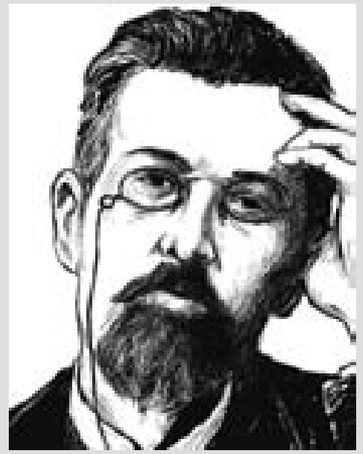

अचानक उस मरियल घंटी से एक धीमी किकयाहट जैसी ध्वनि हुई और इसी के साथ भेड़ की खाल की जैकेट और लम्बे जूते पहने हुए एक प्रौढ़व्यक्ति दुकान में दाख़िल हुआ। उसने सिर और गर्दन पर कोई जानना शाल लपेटा हुआ था।

ये इरेस्ट इवानिच यगोदोव था, जिसे मकर कुज़्मित्व पिता की तरह मानता था। यगोदोव किसी समय नगर परिषद में चौकीदार था, मगर अब वह रेड पोंड के पास रहता है और ताले सुधारने का काम करता है।

''मकरुश्का, नमस्कार, मेरे बच्चे!'' उसने मकर कुज़्मित्व से कहा जो दुकान के सामान को ठीक से रखने में व्यस्त था।

दोनों ने एक-दूसरे को चूमा। यगोदोव ने अपने सिर से शाल हटाया, खुद को सिकोड़ा और बैठ गया।

''अरे बाप रे! कितना लम्बा रास्ता है!'' उसने उसांस भरते और गला साफ करते हुए कहा। ''यह कोई मज़ाक नहीं है! रेड पोन्ड से यहाँ कालुगा गेट तक आना!''

''आप कैसे हैं?''

''बुरा हाल है, मेरे बच्चे। मुझे बुखार था''।

अरे! ऐसा तो मत कहिये! बुखार! कब?''

''हाँ, एक महीने से मैं बिस्तर पर था। मुझे लगा कि मर ही जाऊँगा। मैंने सिर की खूब मालिश की। अब मेरे बाल बड़े हो गए हैं। डॉक्टर कहता है कि मुझे एक बार सिर मुँडवा लेना चाहिए तो अच्छे और मज़बूत बाल उगेंगे। और इसलिए मैंने सोचा कि मैं मकर के पास चलता हूँ। किसी दूसरे के पास जाने से अच्छा है कि अपनों के पास जाओ। एक तो वह काम बेहतर करेगा और दूसरे इसके लिए कुछ लेगा भी नहीं। हालांकि यह सही है कि दूरी बहुत है, लेकिन इससे क्या! टहलना हो गया।''

''मैं यह खुशी के साथ करूँगा। बैठिये''।

मकर कुज़्मित्व ने पैर से थपथपा कर एक कुर्सी की ओर इशारा किया। यगोदोव बैठ गया और शीशे में अपना अक्स देखने लगा। ज़ाहिर तोर पर अक्स देखते हुए उसने खुशी व्यक्ति की, मगर दर्पण भद्दे होंठ, चौड़ी और चपटी नाक तथा चढ़ी हुई आँखों के साथ उसका टेढ़ा-मेढ़ा चेहरा दिखा रहा था! मकर कुज़्मित्व ने उसके कंधों के चारों ओर एक सफेद कपड़ा लपेट दिया जिस पर पीले-पीले धब्बे थे। और फिर कैंची चलाने लगा।

''मैं आपके बहुत अच्छे बाल काटूँगा, उस्तरे से सिर की पूरी खाल साफ कर दूँगा!'' उसने कहा।

''हाँ, ध्यान रखना, जिससे मैं एक तातार की तरह दिखूं, बिल्कुल बम के मानिन्द। बाद में मेरे मज़बूत बाल आ जाएंगे''।

''आन्टी कैसी हैं?''

''बस, ठीक-ठाक ही हैं। अभी पिछले दिनों वह मेजर की बीवी के यहाँ दाई का काम करने गई थी। उन्होंने उसे एक रूबल दिया।''

''वाह! एक रूबल!...ज़रा अपना कान पकड़ कर रखना''।

''मैं पकड़े हूँ...तुम ध्यान रखना कि कैंची से मुझे चोट ना लग जाए।...ओए! मुझे लग रही है। तुम मेरे बाल खींच रहे हो''।

''कोई बात नहीं। बाल कटाने में थोड़ा-बहुत तो यह होता ही है!...और अन्ना एरास्तोन्वा कैसी है?''

''मेरी लड़की? वह बिल्कुल ठीक है, वह अब हमें छोड़ कर जाने वाली है। पिछले हफ़्ते बुधवार को हमने उसकी सगाई शेकिन के साथ कर दी। तुम क्यों नहीं आए?''

कैंची का चलना बंद हो गया। मकर कुज़्मित्व ने अपने हाथ लटका लिये और कुछ डरते हुए पूछाः

''किसकी सगाई हो गई?''

नेट से साभार

''अन्ना की''।

''यह कैसे हो सकता है? किसके साथ?''

''शेकिन के साथ। शेकिन प्रोकोफी पेत्रोविच। उसकी आन्टी ज़्लातोस्तेन्स्की लेन में माई का काम करती है। वह बहुत अच्छी औरत है। ज़ाहिर है, हम सब बहुत खुश थे, ईश्वर का शुक्रिया। शादी एकाध हफ़्ते बाद होगी। ध्यान रखना, तुम्हें आना है; हम सबको बहुत अच्छा लगेगा।''

''लेकिन ये सब कैसे हो गया, इरेस्ट इवानिच?'' निस्तेज और पीले पड़ चुके मकर कुज़िमत्व ने अचरज से कन्धे उचकाते हुए कहा। ये...ये क़तई नामुमकिन है। क्यों, अन्ना इरेस्तोन्वा...क्यों...मैं...मैं उसे प्यार करता हूँ, मैं उससे शादी करना चाहता था। ये सब कैसे हो गया?''

''क्यों! क्यों का क्या मतलब! हम लोग वहाँ गए और उसकी सगाई कर दी! वह अच्छा लड़का है''।

मकर कुज़िमत्व के चेहरे पर पसीने की ठंडी बूँदें उभर आईं। उसने कैंची मेज़ पर रखी और मुट्ठी से अपनी नाक रगड़ने लगा।

''मैं उसे चाहता था'', उसने कहा। ''ये असम्भव है, इरेस्ट इवानिच। मैं...मैं उससे प्यार करता हूँ और अपने दिल की पूरी गहराई से मैंने उसके सामने शादी का प्रस्ताव रखा था...और आंटी ने मुझसे वादा भी किया था। मैंने आपको हमेशा इस तरह इज्ज़त दी जैसे कि आप मेरे पिता हो...मैंने एक भी पैसा लिए बिना हमेशा आपके बाल काटे हैं...मैंने हमेशा आप पर एहसान किए, मेरे पिता के मरने बाद आप मेरा सोफा ले गए, और तो और आपने मुझसे दस रूबल नगद भी लिए थे जो आपने कभी वापस नहीं किए। क्या आपको याद है?''

''याद है। हां, मुझे याद है। बात सिर्फ़ ये है मकर, कि तुम मेरी लड़की के लायक कैसे हो सकते हो? उसके लायक तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। न तो तुम्हारे पास पैसा है और न ही इज्ज़त। तुम्हारा धंधा भी तुच्छ है''।

''और क्या शेकिन अमीर है?''

''शेकिन यूनियन का मेम्बर है। इसलिए मेरे बच्चे...इस बारे में बात करने से कोई फायदा नहीं, जो होना था वह हो चुका। अब बदलने की कोई गुंजाइश नहीं है मकरुश्का। तुम्हें अपने लिए कोई दूसरी लड़की ढूँढ लेनी चाहिए...ये दुनिया कोई छोटी तो है नहीं।...आओ, बाल काटो। तुमने बंद क्यों कर दिए?''

मकर कुज़िमत्व चुप और बेजुम्बिश खड़ा रहा। फिर उसने अपनी जेब से रुमाल निकाला और रोना शुरू कर दिया।

''अरे! आओ..ये क्या करते हो? इरेस्ट इवानिच ने उसे सांत्वना देते हुए कहा। छोड़ो। छि;, तुम तो औरतों की तरह रोते हो! तुम पहले मेरे बाल काटने का काम पूरा करो, फिर रोओ। कैंची उठाओ!''

मकर कुज़िमत्व ने कैंची हाथ में ली, शून्यता के साथ उसे देर तक देखता रहा और फिर वापस मेज़ पर रख दी। उसके हाथ कांप रहे हैं।

''मैं नहीं कर सकता,'' उसने कहा। ''मैं इस समय कुछ नहीं कर सकता। मुझमें ताकत नहीं है! मैं एक अभागा व्यक्ति हूँ! और वह भी अभागी है! हमने एक-दूसरे से प्यार किया था, हमने आपस में वादे किए थे और हमें बिना किसी दया के निष्ठुर लोगों ने अलग कर दिया। चले जाओ इरेस्ट इवानिच! मैं अब तुम्हारी शक्ल देखना भी बरदाश्त नहीं कर सकता।''

''तो, मैं कल आऊँगा, मकरुश्का। तुम कल बाल काटने का काम पूरा कर देना''।

''ठीक है''।

''तुम अपने को शांत कर लो और मैं कल सबेरे जल्दी जाऊँगा''।

इरेस्ट इवानिच की आधी खोपड़ी के सारे बाल कट चुके हैं उसकी आधी खोपड़ी चमक रही है और वह किसी सज़ायाफ़्ता कैदी की तरह लग रहा है। इस तरह अधूरे बाल छूटना हालांकि बहुत भद्दा लग रहा था, लेकिन किया भी क्या जा सकता था! उसने अपने सिर पर शाल लपेटा और नाई की दुकान से बाहर हो गया। पीछे अकेला छूट चुका मकर कुज़िमत्व नीचे बैठ गया और बड़ी देर तक चुपचाप रोता रहा...

दूसरे दिन सुबह इरेस्ट इवानिच फिर आया।

''क्या है?'' मकर कुज़िमत्व ने निहायत ठंडे लहज़े में पूछा।

''मेरे बालों की कटिंग पूरी कर दो मकरुश्का। आधा सिर करने को रह गया है''। ''मेहरबानी करके इसके लिए पहले पेशगी पैसे दो। मैं मुफ्त में नहीं काटूँगा''।बिना एक शब्द बोले इरेक्ट इवानिच बाहर हो गया, और आज तक उसके सिर के एक तरफ लम्बे बाल हैं और दूसरी तरफ घुटी हुई चांद। बालों की कटिंग के लिए पैसा देना उसे फ़िज़ूलखर्ची लगता है और वह सिर के उस तरफ अपने आप बाल बढ़जाने का इंतज़ार कर रहा है, जिस तरफ से वह गंजा है।

बेटी की शादी में वह इसी हालत में नाचा! स

1348, सैक्टर-5, कुरुक्षेत्र-136118 (हरियाणा)
मो: 9416106707

वक्रोक्ति-27

समावर्तन के अधबीच व्यंग्य केन्द्रित अर्द्धवार्षिक स्तंभ

विशेष सम्पादकद्वय
सूर्यकान्त नागर/श्रीराम दवे

32

वक्राभिमुख : सूर्यकांत नागर

33

व्यंग्याग्र : कैलाश मण्डलेकर

आत्मकथ्य : हम ऐसे बढ़ रहे थे जैसे जंगल में झाड़ झंखाड़, पौधे और घास बढ़ती है

रिजर्वेशन काउंटर पर पेन का झमेला

अजात शत्रु और जवाहर चौधरी के आलेख

साक्षात्कार : कैलाश मण्डलेकर से शैलेन्द्र शरण की बातचीत

40

व्यंग्य : प्रकाश पुरोहित

बलिहारी गुरु आपकी

41

व्यंग्यशीर्ष : राजकमल

आत्मकथ्य : कला और साहित्य ने मुझे जीवन जीने की समझ दी।

कला चिंतन : पक्षधरता और निरंकुशता दोनों ही कला की उत्कृष्टता में बाधक है : राजकमल

साक्षात्कार : कार्टूनिस्ट राजकमल से कथाकार बलराम की बातचीत

48

और अंत में : श्रीराम दवे

गूंगे का गुड़

व्यंग्य एक प्रतिरोध है

सूर्यकांत नागर

व्यंग्य विरोधाभासी स्थितियों के विरुद्ध उपजा असंतोष है जो कार्य रूप में परिणित न हो पाने के कारण वक्रीय हो व्यंग्य के रूप में प्रगट होता है। दरअसल वह उन तमाम विसंगतियों के खिलाफ है जो एक सुसंगत समाज की रचना में बाधक है। वह तीखी प्रतिक्रिया और वाजिब गुस्से की अभिव्यक्ति है। एक किस्म की बेचैनी जो बर्दाश्त- बाहर होने पर क़लम की नोक पर उतर आती है और बड़ों-बड़ों के कपड़े उतार देती है। चूँकि सार्थक व्यंग्य अराजक नहीं होता, अतः उसे भीड़ में नंगी तलवार की तरह नहीं घुमाया जा सकता। सूक्ष्म दृष्टि, सामाजिक-राजनीतिक चेतना, चुटीली भाषा और अभिव्यक्ति कौशल के जरिए व्यंग्य को प्रतिरोध का माध्यम बनाया जा सकता है। ठहरे जल में लहरें पैदा की जा सकती है, पारे को थरथराया जा सकता है। मैन बुकर जैसे प्रतिष्ठित साहित्यिक पुरस्कार से नवाजे गए अश्वैत अमेरिकी उपन्यासकार पाल बेट्टी ने श्वेत-अश्वेत के अमानवीय भेदभाव की अपने उपन्यासों में धज्जियाँ उड़ाई तो वह प्रतिरोध और प्रतिकार का ही स्वर था। उन्होंने अपने पुरस्कृत उपन्यास 'द सेल आउट' में इस विसंगति पर कड़ा कटाक्ष कर रंग भेद के घिनौने चेहरे को बेपर्दा किया। पाल बेट्टी के तमाम उपन्यास समाज-व्यवस्था की असंगतताओं की कहानी बयान बरते हैं। उन्होंने ऐसे व्यंग्य का सृजन किया जो पाठक को हिलाकर रख देता है- अंदर से बाहर तक। पाल बेट्टी ने कहा भी है- व्यंग्य प्रतिशोध है। कई बार आप इसलिए हंसते हैं क्योंकि आप अपने आपको रोने से बचाना चाहते हैं।'

इस बार वक्रोक्ति में प्रस्तुत है विसंगतियों, विषमताओं और विद्रूपताओं को चित्रित करने वाले दो प्रखर प्रतिरोधी रचनाकार (एक) सुपरिचित व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर (दो) प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट, लेखक और चित्रकार राजकमल। तीन दशक से अधिक समय से सृजनरत कैलाश मंडलेकर ने अपनी विशिष्ट व्यंग्य-दृष्टि के कारण साहित्य-जगत में एक खास मुकाम बनाया है। कोई ढाई दशक पूर्व जब उनकी व्यंग्य-कृति सर्किट हाउस पर लटका-चांद की समीक्षा की थी, तभी से मैं उनकी सृजनात्मकता से प्रभावित हूँ। उनके व्यंग्य गुदगुदाते हैं तो यह सायस नहीं, अनायास है। वह मनोरंजन की नहीं, उपहास की हंसी है। अजातशत्रु ने सही कहा है कि मंडलेकर का व्यंग्य गूंगे गम को वाणी देता है और आकाओं से सवाल करता है।

राजकमल बहुआयामी प्रतिभा के धनी है। जितने अच्छे कार्टूनिस्ट हैं, उतने ही अच्छे कथाकार और चित्रकार भी है। राष्ट्रीय दैनिक जनसत्ता, नवभारत टाइम्स, जागरण के अलावा अंग्रेजी पेट्रियॉट और साप्ताहिक लिंक में भी उनके व्यंग्य-चित्रों को खूब पसंद किया गया। साहित्य में भी उनकी गहरी पेठ है। उनके चार कथा-संग्रहों और एक उपन्यास पर लम्बी बहसें हुई हैं। उनका मानना है कि कला और साहित्य में गहरा अंतर्सबन्ध है। संवेदनाएँ एक सी है। दोनों के सरोकारों में भेद नहीं है मात्र अभिव्यक्ति के माध्यम भिन्न हैं।

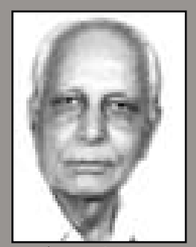

81, बैराठी कॉलोनी-2
इन्दौर-14 मो. 098938-10050

कैलाश मण्डलेकर

जन्म : 09 सितम्बर 1965 को नीमसराय (हरदा म.प्र.)

सागर विश्वविद्यालय से हिन्दी में स्नातकोत्तर ✤ धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, वागर्थ, हंस, नया ज्ञानोदय, वसुधा, लमही, कथादेश, अहा ज़िन्दगी आदि पत्रिकाओं में विगत 30 वर्षों से व्यंग्य लेखन तथा व्यंग्य आलोचना के क्षेत्र में गंभीर हस्तक्षेप।

विविध : हिन्दी रंगमंच कला समूह में सक्रिय भागीदारी तथा दुलारीबाई, बाप रे बाप आदि नाटकों में जीवंत अभिनय ✤ आकाशवाणी इंदौर के पत्रिका कार्यक्रम में कई वर्षों तक व्यंग्य पाठ ✤ स्वतंत्रता संग्राम सैनानियों पर केन्द्रित डाक्यूमेन्ट्री फिल्म में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के अवदान पर शोधपरक प्रस्तुति।

प्रकाशन : अब तक व्यंग्य की चार किताबें, खुली सड़क पर, सर्किट हाऊस पर लटका चाँद तथा एक अधूरी प्रेम कहानी का दुखांत तथा तीसरी कृति एक अधूरी प्रेम कहानी का दुखांत ✤ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित तथा म.प्र. साहित्य अकादमी से पुरस्कृत ✤ लेकिन जाँच जारी है। बोधि प्रकाशन जयपुर।

सम्मान : अखिल भारतीय टेपा सम्मेलन उज्जैन का प्रथम रामेन्द्र द्विवेदी व्यंग्य पुरस्कार ✤ निमाड़ लोक संस्कृति न्यास का सिंगाजी सम्मान✤ वयम सम्मान ✤ संचार सारथी पुरस्कार ✤ पहला 'ज्ञान चतुर्वेदी सम्मान' ✤ अभिनव कला परिषद भोपाल का शब्दशिल्पी सम्मान तथा म.प्र.साहित्य अकादमी का व्यंग्य पुरस्कार।

संपर्क : 38 नाका जसवाडी रोड बैंक ऑफ इंडिया के पीछे,
खंडवा म.प्र. 450001 मोबाइल : 9425085085
Email- kailash.mandlekar@gmail.com

हम ऐसे बढ़ रहे थे जैसे जंगल में झाड़-झंखाड़, पौधे और घास बढ़ती है

कैलाश मण्डलेकर

जिनको लिखते-लिखते लव हो जाता है उनकी बात अलग है, यहाँ तो लिखते-लिखते अरसा हो गया अभी तक लव नहीं हुआ और अब तो लव होने की सारी संभावनाए ही चूक गई। स्थिति ठीक वैसी ही हो गई है जैसी आदि कवि केशवदास ने बयान की है- *''चन्द्र बदन मृग लोचनी बाबा कहि कहि जाय।''* जैसा कि अमूमन होता हे अपने लेखन की शुरूआत भी प्रेम कविताओं से ही हुई थी। उन दिनों *'चली गोरी पनिया भरन को चली'* टाइप के अनेक गीत लिखे और लिख-लिख कर छपवाए पर इन गीतों की राजकुमार अपना डोल उठाये व्यंग्य के सूखे कुंए में बाल्टी डुबाने में मसरूफ रहे जहाँ पहले से ही ढेरों मछलियाँ फाग खेल रही थीं। व्यंग्य में प्रेम के रास्ते नहीं खुलते, पिटाई के मार्ग प्रशस्त होते हैं जो प्रेम गली को सांकरी बताते आये हैं वे पिटे हुए प्रेमी थे। प्रेम के रास्तों में गाँव की गलियाँ हमेशा से ही अवरोध पैदा करती रही हैं। खाकसार वर्षों से पिट रहा है और फिर भी मजे में है। पिछले दिनों आकाशवाणी के एक इंटरव्यू में पूछा गया कि अपने अंतर्विरोधों का खुलासा करते हुए बताइये कि लेखन का सच आखिर होता क्या है। मैंने कहा, देखिये साहब लेखक का सच बहुत सरल और सीधा नहीं होता, वह अपने दुर्गुणों का ब्योरा भी इस अंदाज से देता है कि सुनने वाले को सद्गुण लगने लगते हैं। भाषा के तिलिस्म को समझना बहुत कठिन होता है। लेकिन आपने जानना चाहा है तो सच ही बोलूंगा और सच के सिवा कुछ नहीं बोलूंगा।

सो, किस्सा कोताह यह कि उन दिनों हम नीमसराय में रहते थे। नीमसराय एक गाँव था जो अपने गाँव होने की वजह से पूरी तरह संतुष्ट था और जिसे शहर तो छोड़िये कस्बा होने की चाहत भी नहीं थी। वहाँ नीम और इमली के कुछ दरख्त थे जो इतने घने थे कि कई बार अनजान आदमी को यह अंदाजा लगाना मुश्किल होता था कि यहाँ कोई बसीगत भी है या निरा जंगल है। लेकिन जहाँ बसीगत थी क्योंकि हम उसी जंगल में रहते थे। रात में गाँव वाले अपने घरों में घासलेट की चिमनियाँ जलाते थे जो फ़कत इतना उजाला करती थी कि उस उजाले में बच्चे अपनी आदमकद परछाइयों को देखकर मनोरंजन कर सकें। तब बच्चों के मन बहलाव के और कोई साधन नहीं थे। घासलेट की राशनिंग थी इसलिए रातभरी बत्ती जलाने की अय्याशी नहीं की जा सकती थी। अँधेरे में कई लोगों को सांप डस लिया करते थे और हैरत की बात कि लोग फिर भी नहीं मरते थे। ज्यादातर मामलों में सांप ही मर जाया करते थे। रात में लोग दिया बत्ती बुझा देते थे और सारा गाँव एक खौफनाक अँधेरे के मुँह में समा जाता था। अन्धेरा सिर्फ रात की वजह से ही नहीं होता था, उसकी सैकड़ों वजहें और हजारों रंग थे। अँधेरे की उपस्थिति जब अटल हो जाती है तब लोग उससे प्यार करने लगते हैं। अन्धेरा बाज दफे सुरक्षा के अभेदय किले की तरह होता है। हम लोग अँधेरे के आगोश में निरंतर महफूज रहना सीख गए थे। घासलेट की बत्तियों से उजाला नहीं होता था, वे महज उजाले का भ्रम पैदा करती थीं।

गाँव में एक नदी थी जो गर्मियों में भी हदाहद भरी रहती थी जिसका नाम माचक था। माचक पर रेलवे का बड़ा भारी पुल था जिस पर से धड़ाधड़ रेल गाड़ियाँ गुजरती थीं और रेलगाड़ियों के साथ वक्त भी उतनी ही तेजी से गुजर

जाता था। नदी की तलहटी में भैरव बाबा की ठाण थी जहाँ रेलवे के कामगार अपने अबोध बच्चों को आसन्न व्याधियों से बचाने लिए मन्नत मानते थे और मन्नत उतारने के लिए ठाण पर बकरा काटते थे। नदी के किनारों पर कहू के झाड़ों का झुरमुट था जहाँ दफाई वाले दोपहर में पेड़ की जड़ों पर सर रखकर झपकी लेते थे। पिताजी, जिन्हें हम बप्पा कहते थे वे रेलवे में मुलाजिम थे तथा अंधेरी रात में जब भादो की झड़ी लगा करती थी तब कम्बल की गुमटी ओढ़कर रेलवे लाइन की पेट्रोलिंग करने निकल जाते।

उनके पास एक लोहे की केंडिल होती थी जिसमें ऐसी व्यवस्था थी की वक्त पड़ने पर उसके स्लाइडर ग्लास को घुमाकर लाल बत्ती दिया जाता जिसे देखकर ट्रेन रुक जाया करती थी। माचक में जब बाढ़आती थी और पानी खतरे के निशान से ऊपर चला जाया करता तब बप्पा वहां से गुजरने वाली गाड़ियों को लाल बत्ती दिखाकर रोक दिया करते। कई बार वे ट्रेन रोक कर उस पर सवार हो जाते और कुड़ावे के रेल्वे स्टेशन पर जाकर स्टेशन मास्टर को यह इत्तला दे देते कि सब कुछ ठीक चल रहा है। लेकिन उन दिनों कुछ भी ठीक नहीं था। गाँव में सड़क नहीं थी, बिजली भी नहीं थी और बियाबान था। बिजली तो बहरहाल अब भी नहीं है, खम्भे गड़े हैं और ठेकेदार पिछले कई वर्षों से लापता है।

हम लोग स्कूल की पढ़ाई के लिए मांदला जाते थे जो हमारे गाँव से तीन चार किलोमीटर की दूरी पर था। नदी में जब बाढ़होती थी तब पुल से जाना पड़ता था। पुल पर सधे कदम रखने होते थे, स्लीपर के ऊपर पतरे नहीं बिछाए गए थे। ध्यान चूकने पर किसी भी वक्त नदी में गिर सकते थे। हम में से आज तक यदि कोई नहीं गिरा है तो इसका कारण मात्र यह है की पुल पर लात रखने से पहले ही भैरव बाबा को याद कर लिया करते थे। भैरव बाबा सबकी मदद करते थे। पुल पर से आज तक कोई दफाई वाला भी नहीं गिरा। जबकि सभी दफाई वाले काम से छुट्टी के बाद माँदला से देशी शराब पीकर आते थे और नशे की हालत में लगभग डगमगाते हुए पुल पार करते थे। सिर्फ मनोहर भैया ही अपवाद थे जो एक दिन न जाने कैसे पुल पर से गिरे और नदी की चट्टान से टकराकर दम तोड़ दिया। भैरव बाबा ने उनकी कोई मदद नहीं की। पर भैरव बाबा पर लोगों के विश्वास में ज़रा भी कमी नहीं आई। मनोहर भैया की मृत्यु के बाद कुछ दिनों तक हम लोगों ने स्कूल जाना बंद कर दिया पर आगे की पढ़ाई के लिए माँदला के अलावा कोई विकल्प नहीं था, हम उसी पुल को पार करते हुए वापस माँदला जाने लगे। यह 1960 या 62 का समय रहा होगा। गाँव में अखबार नहीं आते थे और घर में पढ़ाई-लिखाई का कोई माहौल नहीं था। किताबों के नाम पर एक रामचरित मानस थी जिसे दादाजी लाल कपड़े में बाँधकर अलमारी में रखते थे और पढ़ने से पहले उसकी पूजा करते थे। उन्हें रामचरित मानस की अनेक चौपाइयां याद थी जिन्हें वे अक्सर गलत मौकों पर उद्घृत कर दिया करते और इसी वजह से सारे गाँव के लोग उन्हें विद्वान समझने लगे थे। अपनी कथित विद्वता को निरंतर मेंटेन रखने के लिए वे लोगों का इलाज भी करने लगे, और दवाओं के नाम पर पेड़ों की पत्तियां और जड़ों का काढ़ा बनाकर लोगों को दिया करते। उन्हें सर्प और बिच्छू का ज़हर उतारने भी आते थे। मन्त्र पढ़ने मात्र से सांप का ज़हर कैसे उतरता होगा यह मेरे लिए उन दिनों भारी कौतुहल का विषय था, आज भी है। दादाजी की मृत्यु के बाद गाँव के आसपास सड़क बनाने वालों ने सारे पेड़ काट दिए, वे पेड़ भी जिनकी जड़ों में औषधीय गुण थे। पेड़ों के साथ दादाजी का विश्वास भी मर गया।

गाँव में भांति भांति की विषमताएं थी। गरीबी, बीमारियां, अभाव और कर्ज तथा अकारण लड़ाइयाँ। परिवार में मेरे अलावा दो छोटे भाई और एक बहन थी। बप्पा कर्ज में डूबे हुए थे, सूद में सारी तनख्वाह चली जाती थी। तनख्वाह मिलते ही एक सूदखोर मोटर साइकिल से घर पर आता था और लकड़ी की एक मात्र कुर्सी पर ठसके के साथ बैठ जाता था। हम उसके लिए नीबू का शर्बत बनाते थे। मैंने नीबू का शरबत बनाना सूदखोर की मेजबानी के बहाने सीखा था। कर्ज के बावजूद पिताजी ने कभी हिम्मत नहीं हारी थी। वे खुश रहते थे और रोज शाम को भजन मंडली में भजन गाने चले जाते थे। घर पर फुर्सत में रहते तब भी भजन गाते। वे भजन गाकर आसन्न दुखों से लड़ते थे। लेकिन यह हारी हुई लड़ाई थी। मुझे ऐसा लगता था कि भजनों में जो ईश्वर से गुहार लगाई जाती है उसे वह कतई नहीं सुनता। फकत संगीत की रिदम के कारण मन को जो फौरी राहत मिलती है वही काम की चीज होती है। देखा जाए तो प्रार्थनाएं सुनी ही नहीं जाती वे केवल मन का भ्रम होती है। तब मेरी उम्र उतनी नहीं थी कि मैं कर्ज की पीड़ा को समझ सकूँ पर पिता की उदासी को समझता था। खास तौर से उस वक्त जब वे अकेले में खुद से बात करने लगते और अचानक खामोश हो जाते। फिर घंटों खामोश रहते थे। इन्हीं हालातों के बीच हम लोगों की उम्र बढ़ती जा रही थी पर यह बढ़ना बहुत उत्साहजनक नहीं था। हम ऐसे बढ़रहे थे जैसे जंगल में झाड़ पेड़ या घास बढ़ती है। जिसके बढ़ने या न बढ़ने की किसी को परवाह नहीं होती। तथा जिसके असमय काल कवलित हो जाने पर कोई दुखी नहीं होता। सिर्फ हवा पानी और धूप के बल पर बड़े हुए हम लोगों ने अपने अपने बड़े होने की कभी नोटिस नहीं ली। सब कुछ ऐसे होते चला गया जिसके होने या न होने में हमारी कोई भूमिका नहीं थी। बरसात में गाँव के घूड़े पर घास के बीजों का अंकुरण हो जाता है और कालांतर में ये पौधे इतने बड़े बड़े हो जाते हैं कि घूड़ा दिखाई नहीं देता, एक स्वस्थ हरीतिमा से आच्छादित हो जाता है। हम घूड़े पर उगे हुए पौधों की तरह थे। हमने घूड़े को अपनी उम्र की हरियाली के नीछे छुपा लिया था।

अपने व्यंग्य लेखन के बारे में कहूँ तो इसकी विधिवत शुरूआत खंडवा आकर हुई। यहाँ पढ़ने लिखने की ढेरों सुविधाएं थीं। आदरणीय श्रीकांत जोशी, पंडित रामनारायण उपाध्याय जिन्हें हम लोग दादा कहते थे, और मेडम कृष्णा अग्निहोत्री जी जैसे राष्ट्रीय स्तर के लेखकों के साथ बैठने बातें करने का मौका मिला। श्रीकांत जी के पास अद्भुत संस्मरण थे। वे नवयुवकों की रचना धर्मिता में बहुत रुचि लेते थे। उनके घर पर गोष्ठियां हुआ करती थी, चर्चाएं और विमर्श भी खूब होता था। यह का दौर था। खंडवा में उन दिनों नाटक आदि भी काफी खेले जाते थे। अखबारों में तथा बाद में आकाशवाणी इंदौर में खूब व्यंग्य पाठ किया। तब इन्दौर रेडियो पर प्रभु जोशी थे। आकाशवाणी के पत्रिका कार्यक्रम में हर सप्ताह एक व्यंग्य पढ़ा जाता था। प्रभु दा के दौर में पत्रिका कार्यक्रम की बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे एक कथाकार के अलावा विद्वान भाषाविद भी हैं। उनसे भाषा और व्यंग्य पाठ की गहरी समझ हासिल हुई।

उन दिनों कला समय में प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार को पढ़कर मैं व्यंग्य लेखन की दिशा में और भी गंभीरता से प्रवृत्त हुआ तथा जिसने मुझे गहराई से प्रभावित किया, वह इंटरव्यू हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक (अब स्वर्गीय) डॉ.प्रभाकर श्रोत्रिय से लिया गया था। कला समय के संपादक विनय उपाध्याय द्वारा पूछे गए एक प्रश्न के जवाब में डॉ.प्रभाकर श्रोत्रिय ने कहा कि म.प्र. में व्यंग्य लेखन में एक कैलाश मंडलेकर हैं, वे अच्छा लिख रहे हैं। इस एक पंक्ति को पढ़कर मैं सारे दिन उत्तेजित रहा। मुझे लगा कि मुझे लिखना चाहिए। प्रभाकर जी द्वारा इस तरह अलग से रेखांकित किये जाने के बाद मैंने कुछ लम्बी व्यंग्य कथाएं लिखीं। जो बाद में हँस, अहा! जिन्दगी और वागर्थ में आईं। श्रोत्रिय जी अपनी कही गई बातों को लेकर किस कदर दृढ़ हुआ करते थे इसका प्रमाण मुझे उस वक्त मिला जब वे ज्ञानपीठ के निदेशक हुए और मेरी व्यंग्य कृति को उन्होंने ज्ञानपीठ के लिए स्वीकृत किया।

व्यंग्य

रिजर्वेशन काउंटर पर पेन का झमेला

कैलाश मण्डलेकर

अगर आप रेल का टिकिट बुक कराने जा रहे हैं तो मेरी सलाह है कि साथ में पेन मत ले जाइए। पेन के कारण आप झमेले में फँस सकते हैं। जैसे कि मैं फँस चुका हूँ, बल्कि अभी तक फँसा हूँ। इससे तो बेहतर है कि घर बैठे ई टिकिट बुक कर लीजिये। ई टिकिट में पेन का लफड़ा नहीं रहता। लगता है ई टिकिट का आविष्कार पेन की झंझट से बचने के लिए ही हुआ है। परसों जब मैं बुकिंग काउंटर पर गया तो वहाँ बिलकुल भीड़ नहीं थी। ऐसा सूनापन तो सरकारी दफ्तरों में लंच में भी नहीं होता। *'सून बीच दशकंधर देखा।'* ऐसे ही सूनेपन का लाभ उठाकर रावण ने सीता हरण कर लिया था। लेकिन मुझे तो सिर्फ टिकिट बुक करनी थी। मैंने सोचा जल्दी से यहाँ से निपटकर बाजार के दूसरे काम कर लूंगा। इस काउंटर पर अक्सर भीड़ रहती है लेकिन आज खाली था। इतना खाली कि काउंटर वाली मेडम चाहे तो मोबाइल पर पूरी पिक्चर देख ले। पर वह पिक्चर देखने के बजाये अपनी चींटी उंगली के नाखून को देख रही थी, जो काफी लंबा था और उसपर गहरे मैरून कलर की नेल पॉलिश भी लगी थी। वह जब भी कंम्प्यूटर के की बोर्ड पर अपनी उंगली चलाती काउंटर पर खड़ा यात्री उस लम्बे नाखून के माया जाल में उलझ जाता, और वापस किये गए पैसे भी ठीक से नहीं गिन पाता। मुझे ऐसा लगा कि लम्बी खूबसूरत नाखूनों वाली उंगलियाँ कहीं बाजार का मायावी षडयंत्र तो नहीं है। बहरहाल मैं तो अपना टिकिट बुक करा चुका था, और झोला उठाकर बाजार

मैं अब उस शख्स की तरफ मुखातिब हूँ जो काउंटर के बाजू में मेरे पेन से फ़ार्म भर रहा है। वह काफी ऊबा हुआ सा इंसान लग रहा है तथा उसके पास बहुत सारा खाली वक्त भी है जिसे गुजारने की गरज से वह रेलवे की बुकिंग ऑफिस तक चला आया लगता है।

के लिए निकल ही रहा था कि वहाँ एक नवयुवक आ धमका। पहली ही नजर में वह मुझे काफी स्मार्ट लगा, ऐसे लोगों के पास अक्सर पेन नहीं होता। आजकल खीसे में पेन रखना यों भी, अनपढ़और जाहिल लोगों की निशानी है। जबकि वह अपनी वेशभूषा से पढ़ा लिखा लग रहा था। जाहिर है उसके पास पेन नहीं था, उसने मुझसे बेझिझक पेन माँगा जो उस वक्त मेरे हाथ में ही था। उसने बहुत आजिजी से प्लीज़ कहा। एक लंबा और अंतहीन प्लीज़। उसने अपनी याचना में वक्त का भी जिक्र किया। एक मिनिट पेन देंगे प्लीज़। मैंने उसे दे दिया, यह सोचकर कि एक मिनिट की ही तो बात है, इतनी सी देर में कौन रमैया की दुल्हन बाजार लूट लेगी। वह फार्म भरता रहा और मैं खिड़की से बाजार की जनसंकुल सड़क को देखने में मसरूफ हो गया। इस मसरूफियत या बेध्यानी में वह कब मेरा पेन किसी दूसरे आदमी को देकर चला गया मुझे पता ही नहीं चला। जाते हुए वह केवल इतनी सी चेतावनी दे गया कि अंकल का है। मैंने बस इतना ही सुना।

मैं अब उस शख्स की तरफ मुखातिब हूँ जो काउंटर के बाजू में मेरे पेन से फ़ार्म भर रहा है। वह काफी ऊबा हुआ सा इंसान लग रहा है तथा उसके पास बहुत सारा खाली वक्त भी है जिसे गुजारने की गरज से वह रेलवे की बुकिंग ऑफिस तक चला आया लगता है। उसे देख कर यह भी लग रहा था कि यहाँ वह अपनी मर्जी से नहीं आया है बल्कि किसी ने उसे ठेल ठाल कर भेज दिया है। यदि वह यहाँ नहीं आता तो शायद इस वक्त किसी कॉफी हाउस में बैठकर सिगरेट के कश लगा रहा होता। उसकी जेब से सिगरेट का एक पिचका हुआ पैकेट झाँक रहा था। उसने दो तीन दिनों से शेविंग भी नहीं की थी और आगे इस बाबत उसका कोई इरादा भी नहीं था। लेकिन मुझे क्या, मुझे तो अपना पेन लेना था। अभी उसने आधा ही फार्म भरा था, फिर जेब से मोबाइल निकालकर किसी को फोन करने लगा। वह कह रहा था कि जयपुर से आठ को वापसी कर लें तो ठीक रहेगा, लेकिन अजमेर नहीं चल पायेंगे। दूसरी तरफ शायद उसकी पत्नी रही होगी जो ख्वाजा साहेब की दरगाह पर जाने की जिद कर रही थी। इसलिए उसे आठ तारीख की वापसी मंजूर नहीं थी। पति और पत्नी के बीच बहस हो रही थी। वह मेरे पेन के पिछले हिस्से को फार्म भरने वाले ठीये पर धीरे-धीरे ठोकते हुए बोल रहा था कि मन्नत तो पिछले बार ही पूरी हो गई थी अब तो केवल नए साल के जश्न का इरादा है। जबकि उसकी पत्नी अपनी जिद पर अड़ी हुई थी। यह सारा मामला अब किसी अकीदतमंद की ज़िया से जुड़ चुका था जो दाम्पत्य की तंग गलियों में उलझते जा रहा था। काउंटर पर भीड़ बढ़रही थी और मुझे भी जल्दी थी। पर जब तक सामने वाला फार्म न भर ले मुझे खामोश रहना होगा। सभ्यता का यही तकाजा है। माना कि पेन आपका है लेकिन उसे छीना तो नहीं जा सकता। यह तो अभद्रता होगी। अव्वल तो दिया भी आपने नहीं है। फिर धैर्य और अनुशासन भी तो कोई चीज है। मुझ जैसे धर्म भीरू व्यक्ति के लिए ये मुश्किलात की घड़ियाँ हैं। ख्वाज़ा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह का मसला है। फ़कत एक पेन का ही तो सवाल है इस अदने से पेन की खातिर मैं दोज़ख की आग में क्यों झुलसुं। मैं सहमे हुए, चुपचाप अपने पेन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। बल्कि आँखों ही आँखों में उस शख्स से इल्तिजा भी कर रहा हूँ कि मुझे जल्दी है। जबकि जवाब में वह मुझे घूर रहा है, कारण कि मैं उजबक की तरह वहाँ खड़े पति पत्नी की निजी गुफ्तगू में दखलंदाजी कर रहा हूँ। पर मैं क्या करूं मुझे मेरा पेन तो लेना ही होगा। मैं यात्रियों की सुविधा के लिए रखी गई एक निरीह बेंच पर बैठ गया हूँ। पता नहीं और कितनी देर लगेगी। मुझे साबरी ब्रदर्स की कव्वाली याद आ रही है। 'भर दे झोली मेरी या मुहम्मद।' वह आदमी अभी भी मोबाइल पर बात करने में मसरूफ है।

कैलाश मण्डलेकर का व्यंग्य बोध

अजातशत्रु

यह आलेख सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार अजातशत्रु द्वारा कुछ अरसे पूर्व लिखा गया था। कैलाश मण्डलेकर के बहाने हिन्दी के वर्तमान व्यंग्य परिदृश्य की तलस्पर्शी व्याख्या तथा गंभीर मीमांसा की गई है। - संपादक (वक्रोक्ति)

इधर हिन्दी में जो नए व्यंग्यकार उभरे हैं, जिनमें दूर तक देखने और जाने की संभावना है, उनमें एक यकीकन कैलाश मण्डलेकर हैं। ऐसा दावा मैं क्यों कर रहा हूँ? क्या इसलिए कि कैलाश मेरे काफी करीब है? नहीं, इसलिए कि दोस्ती और दुश्मनी के बाहर हर व्यक्ति का अपना कुछ आब्जेक्टिव होता है और कैलाश के उसी वस्तुनिष्ठ मूल्य को मैं एक समीक्षक के रूप में पूरी आत्मनिर्ममता से बखान रहा हूँ। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है सहजता, सरलता और शहरी जिन्दगी के चोंचलों और दबावों से उसकी दूरी। इस कारण उसके लेखन में न कहीं आइडियोलाजिकल दुराग्रह है और न कहीं कुछ मानने-मनवाने का आक्रोश। वह न अंग्रेजी बोलता है और न अंग्रेजी लेखकों को कोट करके अपनी सामर्थ्य को मनवाना चाहता है। उसके पास सगे अनुभव, विश्लेषण और छद्महीन बौद्धिकता की पूंजी है। बल्कि वह एक स्वाभाविक लेखक की मानवतावादी इंस्टिंक्ट से, सीधे-सीधे इतना जानता है कि तमाम सोच विचार और वेद-धर्म का आधार आदमी है और आदमी का आधार उसकी रोटी, सुख अस्मिता और स्वतंत्रता है, इस तरह सारे लेखन का आधार, दिशा और सार्थकता यह है कि कितना वह आदमी और व्यवस्था से आदमी की मुक्ति के लिए है। जी, हाँ, इसी मुक्ति में सभी किस्म की मुक्तियाँ शामिल हैं- आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक।

इसी बुनियादी समझ और स्वाभाविक मूल्य बोध से उसका विषय, चयन, अनुभव, रेखांकन, कथ्य ग्रहण, और दिशा निर्धारण चलता है। वह घोषित कम्युनिस्ट नहीं है, पर जिस विराट मानवतावादी भावना से स्वयं मार्क्स और कम्युनिज्म का जन्म हुआ है, उसी उत्स को बराबर रखते हुए वह उन्हीं निष्कर्षों में पहुंचता है। यानी एक तरह से वह अनजान मार्क्सवादी भी है। हाँ वैज्ञानिकता के नारे में उसे विश्वास नहीं, क्योंकि वह मानता है कि जो पहले से तय किया जा सके, माना जा सके और गणित में बांधा जा सके, वह मशीनी है और उसका विधाता भी तब मशीनी ही है। लिहाजा वह जीवन और ऐतिहासिक प्रक्रिया की स्वतंत्रता और सृजनशीलता में विश्वास करता है और तर्कबद्ध सोच तथा वैज्ञानिक भविष्यवाणियों को दरकिनार करके सीधे कॉमनसेंस का मूल्यबद्ध लेखन करता है। इसे धार देता है अनुभव, सोच और विश्लेषण। लिहाजा नरम मिजाज, बेतकल्लुफ और अलमस्त व्यंग्यकार कैलाश एक तीखा और मार्मिक संसार रचते हैं। इसमें खोखलापन, पाखण्ड संवेदनहीनता और विसंगतियों पर तीखे प्रहार हैं। आप एक बार फिर से और नए तथा उत्तेजक तरीकों से अपने भ्रष्ट पर्यावरण के प्रति सचेत होते हैं, और प्रक्षालन तथा चेतना के तीक्ष्णीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। माना, यह जागनी लड़ाका नहीं बना देती पर एक क्रुद्ध समीक्षक की धार तो दे ही देती है। यों भी संसार का इतिहास बताता है कि पैगम्बर तक केवल जगाने का काम करते हैं। आगे हाथ पैर और तलवार कोई किसी को नहीं देता। इस मुद्दे पर लेखक आश्वस्त है। वह लेखक होने से आगे की चिंता नहीं करता। वह जानता और मानता है कि जरूरत से ज्यादा अच्छी बात और रहनुमाई बहस दार्शनिक तौर पर नादान समीक्षक ही करते हैं।

कैलाश गाँव में रह चुका है। गरीबी भोग चुका है। इस नाते छोटे-छोटे इंसानों, छोटी-छोटी दैनिक स्थितियों और रोजमर्रा की निरर्थक लगने वाली बटुक ट्रेजडियों पर उसकी नज़र तेज है। उसके बिना कन्फ्यूजन के किसान, खेत, और गंवई गाँव के दुखों को रेखांकित किया है तथा नेता और भ्रष्टाचार को अच्छे चाचुवे दिए हैं। वह अपने पाठक को विश्वास दिलाता है कि यार तेरे आंसू अकेले नहीं है। हम भी उसे देख रहे हैं। कैलाश को पढ़ना एक राहत है, क्योंकि वह आपके गूँगे गम को वाणी देता है और उसके खिलाफ आकाओं से सवाल करता है कि रे बोद्या नहीं मानता। मगर यह सब धीरे-धीरे मजा लेते हुए और सहते-सहते, जैसे फाहे में एक तरफ तेज़ाब लगा कर नीच भाग्य विधाताओं को और दूसरी तरफ टिंक्चर आयोडीन लगाकर आहतों को यथास्थिति के बाहर ले जा रहा हो। आदमी उसका प्रिय विषय है और शोषक, उत्पीड़क दोपाया उसका स्थायी दुश्मन।

व्यंजनात्मक, प्रवाहमय भाषा और बातुल शैली कैलाश के लेखन के बाहरी और तकनीकी घटक हैं। उनमें हृदय पक्ष प्रधान है, और वैज्ञानिक सदी की तार्किकता है। वह तर्क करता है और सरल तरल भाषा में अपनी टिप्पणी और निष्कर्ष पेश करता है। उस मामले में उसने परसाई जी की सरल गहन शैली की याद ताजा की है। उसके व्यंग्य गुदगुदाहट पैदा करते हैं। पर अचानक आलपीन भी चुभो देते हैं। शरारती, सीधा और फिर एक दम उखाड़ू सवाल करता जैसे प्रषाम करके मांजना ढ़ेढकरना चाह रहा हो। यानि परस्युइंग आर्ग्युमेंटेशन व्यंग्यकार का केन्द्रीय फीचर है लेखन में भी और जीवन में भी। विपुल श्रद्धा के पीछे सचेत स्केपटिज्म जो बाहर देखने में कम नज़र आता है पर कैलाश को असल व्यंग्यकार बनाता है। लेखन में यही गुण उसे निर्मम मूर्तिभंजक भी बना गया है।

कोई भी आदमी शून्य नहीं होता, अतः वह एक विशिष्ट व्यक्ति होता ही है। यहीं से उसकी शुरूआत होती है। कैलाश का एक खास मिजाज है उसी से उसकी रुचियाँ नज़र और चुनाव का बायस्कोप तैयार होता है। वह चाहे या न चाहे इसी विशिष्टता से प्रभावित रहेगा। लिहाजा वह बेतकल्लुफ खुश मिजाज और कैजुवल है, उसका लेखन हास्यमूलक और व्यंग्य मूलक है।

कैलाश में उस तरह का दार्शनिक भाव भी नहीं है। इसलिए उसका व्यंग्य कथात्मक है और उस तल तक नहीं जाता जहाँ व्यंग्य के कारण-समूह अपनी जगह आलोच्य होते हुए भी सामाजिक फ्रेम के बाहर चले जाते हैं और आदमी तथा व्यवस्था को दोषी ठहराते हुए भी लेखक को स्वयं अपने से जोड़ते हैं। यह आत्म विश्लेषण ही तब दर्शन के सवाल से भी जुड़ जाता है। जिसे आत्मा ईश्वर या सत्य की खोज कहा गया है। इससे लेखक कोरा सब्जेक्टिव या बौद्धिकअय्याश या जगत से कटा हुआ रदाबिन्शन क्रूसो नहीं हो जाता, बल्कि अन्दर-बाहर को एक ही इकाई में देखता हुआ आत्मकारा से मुक्त होने की कोशिश भी करता है। ऐसा नहीं है कि यह घोर आत्मवादिता और प्रतिबद्धता सामाजिकता साथ साथ नहीं चल सकते जैसा कि बहिर्मुखी कम्युनिस्ट और अंतर्मुखी वेदान्तिक आरोप लगाते हैं, बल्कि अन्दर और बाहर के इस सम्यक मेल से ही लेखक और व्यक्ति ऐसे मुकाम पर पहुँचते हैं जहाँ वे अर्जुन की तरह यौद्धा भी हैं और कृष्ण की तरह अनासक्त दर्शक भी। यानि ज्ञान और विश्लेषण ही मनुष्य को इस क्रियाशील उभय स्थिति तक पहुंचाता है। पर व्यंग्य और व्यंग्यकारों में पदार्थवादी सोच और विश्वव्यापी मार्क्सवाद के कारण शुद्ध चिंतन के प्रति दुराभाव है। इसलिए आज व्यंग्य हिन्दी में एकांगी रह गया है और प्रायः श्रद्धेय परसाई के आगे नहीं जा पा रहा है। यानि देर अबेर कैलाश को तय करना होगा कि मौजूदा व्यंग्य के आगे जमीन कौन सी है। और यह जमींन उसे धरती का व्यंग्य लिखते हुए ही खोजनी है। इस ज़मीन में मुमकिन है भाषा अधिकाधिक प्रतीकात्मक होने लगे, तर्क उलट जाएँ, कबीर की उलटबासियाँ आवश्यक हो जाए और एब्सर्ड में से सुप्ररैशनल को सजेस्ट करने लगें। पर यह तो यूं भी और यूं भी होना ही है। क्योंकि व्यंग्य सिर्फ परसाई पर और व्यापक मायने में निष्कर्ष प्रधान लाइनियर लॉजिक पर नहीं ठहर सकता। कॉमनसेंस के बैरियर जिस तरह आधुनिक भौतिकी में टूट गए हैं व्यंग्य भाषा और परम्परागत तर्क में भी टूटने होंगे। सम्माननीय परसाई जी के महाप्रेम से मुक्त होना आज के विकासशील व्यंग्यकार की जिम्मेदारी हो गई है। कैलाश मंडलेकर इस कारा तो तोड़ नई ज़मीन तलाशते रहेंगे बाद के व्यंग्य इसके प्रति आश्वस्त करते हैं।

प्रो.आरएस यादव 608 शिवशंकर अपार्टमेंट्स रेलवे स्टेशन एरिया
उल्हासनगर (पूर्व) मुम्बई 421004
मोबाइल : 9753174323

युगीन परिवर्तनों के प्रति सजग व्यंग्यकार

जवाहर चौधरी

वरिष्ठ व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर से परिचय काफी पुराना है। इसके मूल में है व्यंग्य-विधा। व्यंग्य के माध्यम से जो रिश्ता बना, वह कई मोड़ों से गुजरते हुए आज मुक्कमल मुकाम तक पहुंच चुका है। आज जब एक ही विधा में लिखने वालों के बीच प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या-भाव जाग्रत हो जाता है, तब ऐसे में मंडलेकर का लेखन मुझे नई ऊर्जा देता है। कारण, उनकी युगीन परिवर्तनों के प्रति सजग दृष्टि, व्यंग्यानुकूल चुटीली भाषा और विसंगत समाज के प्रति वक्रीय आक्रोश। उनके व्यंग्य ठंडे बलवे की तरह प्रहार तो करते ही हैं, गुदगुदाते भी है। जानते हैं, शोर करने पर व्यंग्य अराजक हो जाता है और अपना प्रभाव खो देता है। कैलाश मंडलेकर अपनी रचनाओं में समाज के अंतिम पंक्ति में खड़े आदमी को जीते दिखाई देते हैं। उन्होंने आम जन के दुःख और संघर्ष को करीब से देखा है। बल्कि खुद भी झेला-भोगा है। उनकी नज़र राजनीतिक, सामाजिक और बुर्जुआ चालाकियों को शिद्दत से पकड़ती है। अब तक प्रकाशित और चर्चा में रहे उनके चार व्यंग्य-संग्रह इसके पुख्ता प्रमाण हैं! उल्लेखनीय है कि 'एक अधूरी प्रेम कहानी का अंत' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है और 'लेकिन जाँच जारी है' हाल ही में बोधि प्रकाशन से आया है। मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी से पुरस्कृत और ज्ञान चतुर्वेदी सम्मान से अलंकृत, मंडलेकर की रचनाएँ गंभीर होते हुए भी रोचक और पठनीय है। रोचकता के बीच उनकी सामयिक चिंताएं कब आक्रोश का स्थल ले लेती है, पता ही नहीं चलता। वे अघोषित प्रतिबद्ध रचनाकार हैं।

मान्य साहित्यकार होने के बावजूद कैलाश सहज सरल है। निरा मिजाजी, नरम और नेकदिल। वे अपनी नाराजी रचनात्मक ऊर्जा के लिए बचाकर रखते हैं। इसलिए कहीं कोई तल्खी दिखाई देती भी है तो केवल उनकी रचनाओं में। यह दीगर बात है कि व्यंग्यकार जिन पर कुपित होता है, वे पट्ठे खुद उस कोप का मजा लेते हैं।

16, कौशल्यापुरी, चितावद रोड, इन्दौर-1
0982636-61533

व्यंग्य व्यवस्था के विरुद्ध बगावती तेवर तैयार करता है

व्यंग्यकार कैलाश मण्डलेकर से शैलेन्द्र शरण की बातचीत

शैलेन्द्र शरण : आपके व्यंग्य की अपनी अलग शैली है। आपको पढ़कर अलग से पहचाना जा सकता है। इसे आपने कैसे साधा?

कैलाश मण्डलेकर : आभार कि आप ऐसा सोचते हैं। आपके अलावा अनेक मित्रों की भी यही राय है। मैं स्वयं भी कहीं आश्वस्त हूँ कि मेरे व्यंग्य अलग से पहचाने जाते हैं। हालांकि पूर्व में मुझ पर ऐसे आरोप भी लगे कि मेरे व्यंग्य लेखन पर परसाई, शरद जोशी अथवा ज्ञान चतुर्वेदी या अजातशत्रु आदि की छाया अथवा आभास है। मैं दोनों ही तरह की बातें अथवा आरोप स्वीकार करता हूँ। दरअसल इन व्यंग्यकारों को काफी पढ़ता रहा हूँ। इसलिए उनकी छाप से जल्दी मुक्त होना संभव नहीं था। अजातशत्रु जी तो अक्सर कहा करते हैं कि परसाई के प्रेम से मुक्त होना आज के व्यंग्यकार की सबसे बड़ी चुनौती है। लेकिन यह अच्छी बात है कि मेरे व्यंग्य को अब अलग से पहचाना जा रहा है और मैं अब अपनी मौलिकता के साथ हूँ। आपने कहा कि यह सब कैसे साधा? देखिये यह सारा मामला मशीनी नहीं है। धीरे-धीरे होता है। भाषा तो बनते बनते ही बनती है। मेरे व्यंग्य लेखन की विशिष्टता जैसे कि कुछ लोग कहते हैं कि वे विशुद्ध निबंधात्मक नहीं होते उनमें कथा तत्व भी झांकता है, मुझे लगता है कि कुछ बातें यदि किसी कथा में पिरोकर, पात्र के मार्फत कही जाए तो ज्यादा सटीक और सार्थक ढंग से संप्रेषित होती है। और मुकम्मिल भी।

आपके व्यंग्य में पात्र होते हैं वे आसपास के ही होते हैं एकदम साधारण (कॉमन मेन) ऐसे जो देश में हर जगह पाए जाते हैं। आप इन्हें कैसे खोजते हैं?

मुझे लगता है कि व्यंग्य हो या कार्टून बहुत गहरे में कॉमन मन का बयान ही होते हैं। और सारा लेखन उसी के पक्ष में किया भी जाता है। व्यवस्था या नौकरशाही का शिकार भी आत्यन्तिक रूप से कॉमन मेन ही होता है। जो तथाकथित ऊंचे और संभ्रांत लोग हैं जिन्हें सारी सुख सुविधाएं मुहैया है, जो दुनिया को अपनी शीशे चढ़ी कारों से देखने के अभ्यस्त हैं, वे दूसरी दुनिया के लोग होते हैं। ऐसे में हमारे आसपास जो साधारण लोग हैं खेतिहर हैं, गाँव में रहते हैं जो लाइन में खड़े होकर वोट देते हैं तथा वोट या सत्ता के समीकरण को पूरी तरह समझ नहीं पाते प्रायः तकलीफ उठाते हैं, रोते हैं, गिड़गिड़ाते हैं। ऐसे लोगों से किसी भी कवि, कथाकार या व्यंग्यकार का जुड़ाव स्वाभाविक है। और शैलेन्द्र जी आप भी रचनाकार हैं लिहाजा जानते ही हैं कि उन्हें खोजना नहीं पड़ता ये कलम की नोक पर हर वक्त मौजूद रहते हैं। इन्हें ज़रा सा छू लो तो फफोले की तरह फूट पड़ते हैं। मुश्किल यह है कि व्यवस्था की तंगनज़री इन्हें नहीं देख पाती। इन्हें हर बार जंतर मंतर या टाउन हाल पर खड़े होकर चिल्लाना पड़ता है। हर संवेदनशील लेखक चाहे या अनचाहे इन्हीं की बात करेगा। पारिभाषिक अर्थों में इसे ही प्रतिबद्धता कहते हैं और यह व्यंग्यकार या लेखक का स्वाभाविक चुनाव है।

आपने लिखना कब प्रारंभ किया, पहला संग्रह कब आया। अब तक कितनी किताबें आई और कौन-कौन सी?

ठीक-ठीक याद नहीं है कि लिखना कब शुरू हुआ। लेकिन विधिवत लिखना 1980 के आसपास आरम्भ हुआ। उन दिनों व्यंग्य पढ़ना बहुत अच्छा लगता था। परसाई जी को खूब पढ़ा करता था। कॉलेज के दिनों में एक दो बार उनसे जबलपुर जाकर मिल भी आया था। बाद में अजातशत्रु जी से मिला उनसे खूब लम्बी बातें हुआ करती थी। व्यंग्य लेखन की शुरूआत नईदुनिया से हुई, तब नई दुनिया में यशवंत व्यास, सूर्यकांत नागर, और रणवीर सक्सेना जैसे लोग फीचर संपादक हुआ करते थे। साथ ही परसाई, शरद जोशी के अलावा ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेम जनमेजय, गोपाल चतुर्वेदी तथा अजातशत्रु आदि के व्यंग्य धर्मयुग में छपा करते थे। इन्हें पढ़कर एक चुनौती सी लगती थी कि व्यंग्य लिखे जाने चाहिए और यदि निरंतर प्रयास किया जाए तो 'धर्मयुग' में भी लिखे जा सकते हैं। मजे की बात यह है कि दो चार बार हाथ पैर मारने के बाद उन दिनों मेरा भी एक व्यंग्य भारती जी ने धर्मयुग में स्वीकृत कर लिया। उसका शीर्षक था वाशिंग मशीन- धोने और निचोड़ने का सांस्कृतिक अभियान। बाद में साप्ताहिक हिन्दुस्तान और हंस आदि में भी खूब छपे। पर धर्मयुग में छपने का वह मजा अलहदा था। पहले संग्रह का नाम है 'खुली सड़क पर है' जो पारूल प्रकाशन दिल्ली से आया। सन याद नहीं आ रहा है काफी पहले की बात है। दूसरे संग्रह का नाम है 'सर्किट हॉउस पर लटका चाँद।' 'एक अधूरी प्रेम कहानी का दुखांत' ज्ञानपीठ से आया। अभी अभी एक और व्यंग्य संग्रह आया है 'लेकिन जांच जारी है।' इसे बोधि प्रकाशन जयपुर ने छापा है। इस तरह देखा जाए तो कुल जमा चार किताबें हैं। पांचवी अभी प्रक्रिया में है।

आप किस तरह की किताबें पढ़ते हैं ? आपकी पसंदीदा किताब कौन सी है।

देखिये किसी एक किताब का नाम लेना मुश्किल है पर व्यंग्य मुझे सर्वाधिक तौर पर परसाई और शरद जोशी के ही पसंद है। श्रीलाल जी का रागदरबारी कई बार पढ़ा है। चेखव और बर्नाड शा को भी खूब पढ़ा। तोलस्तोय की अन्ना केरेनिना और दास्तोवास्की की अपराध और दंड भी पढ़ी हैं अभी अभी चार्ली चौपलीन की आत्मकथा समाप्त की, जिसे सूरज प्रकाश ने अनूदित की हैं आत्मकथाएं और संस्मरण मुझे खूब पसंद आते हैं। कांतिकुमार जी के सभी संस्मरण मैंने पढ़े हैं। और बिलकुल अभी विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखित आचार्य हजारी प्रसाद जी की जीवनी व्योमकेश दरवेश भी पढ़ी। भगवान सिंह की भारतीय सभ्यता की निर्मित भी इन्हीं दिनों पढ़ी और विजय बहादुर सिंह की आलोचना का देश विवेक भी। एमिली ब्रान्टे का वुदरिंग हाईट पिछले माह दुबारा पढ़ा। जोर्ज ऑरवेल का एनीमल फार्म तथा

स्टीफन स्वाईग की जीवनी जिसका अनुवाद ओमा शर्मा ने वो गुजरा ज़माना शीर्षक से किया है अभी ही पढ़ी है। सर्वेनटीज का डॉन क्विकजोट मुझे बहुत पसंद है, मार्खेज का एकांत के सौ वर्ष भी दो तीन बार पढ़चुका हूँ। हिन्दी और उर्दू के जितने व्यंग्यकार हैं सबको पढ़ता हूँ।

आपका प्रतिनिधि व्यंग्य कौन सा है, उसकी क्या विशेषताएं हैं?

लेखक के लिए यह बताना बहुत मुश्किल होता है कि वह अपनी किसी एक रचना को प्रतिनिधि माने। क्योंकि वह तो हर रचना को प्रतिनिधि मानकर ही लिखता है। यह सवाल तो पढ़ने वालों से पूछा जाना चाहिए कि वे किस रचना को श्रेष्ठ मानते हैं। हालांकि उसमे भी टंटा है क्योंकि हर पाठक का अपना एक टेस्ट और टेम्परामेंट होता है। हाँ, यदि आप मुझसे ही जानना चाहते हैं तो आश्वस्त करता हूँ कि कभी बैठकर पूरी ईमानदारी से अपने कुछ व्यंग्य चुनकर एक प्रतिनिधि संग्रह तैयार कर सकता हूँ। उम्मीद है कि आप भी इस काम में मेरी मदद करें।

आपने व्यंग्य के अलावा ग़ज़लें भी लिखी हैं जो काफी पसंद की जाती है।

नहीं नहीं, शुरूआत में कुछ ग़ज़लें शौकिया तौर पर लिखी थीं उन दिनों जब कवि गोष्ठियों में जाया करते थे और तब गद्य व्यंग्य पाठ का रिवाज नहीं था। मंच पर व्यंग्य पढ़ने की शुरूआत शरद जोशी और के पी सक्सेना ने बहुत बाद में की। तो उन दिनों गोष्ठियों में भाग लेने का शौक था। ये 25-26 की उम्र बड़ी खराब होती है। इस उम्र में शेखी बघारने और अख़बार में नाम छपाने का बहुत शौक होता है। मुझे भी था, सो गोष्ठियों में पढ़ने के लिए कोई 20-30 ग़ज़लें लिख मारीं। बाद में लोगों ने कहा कि अच्छे खासे व्यंग्य लिखते हो ये क्या लिखने लगे तो बंद कर दिया। हालांकि उन ग़ज़लों में भी व्यंग्य का तेवर जस का तस रहा है। इंदौर के साहित्यकार और कवि मित्र उत्पल बैनर्जी तो अभी भी जब मिलते हैं ग़ज़ल लिखने की हिदायत देते रहते हैं।

वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य को आप कैसे देखते हैं, क्या महसूस करते हैं?

अच्छा है। बहुत निराशाजनक नहीं कहा जा सकता। छापे की तकनीक से बहुत सुगमता हो गई है। किताबें आसानी से छप जाती हैं। इधर साइबर संसार भी अब पूरी तरह अस्तित्व में आ चुका है। इसलिए हर कोई अपनी भावनाओं को व्यक्त कर लेता है। फिर वह परम्परागत अर्थों में साहित्य हो या न हो। अनुभव तो उसमें भी होते ही हैं। अब सम्पादक का भी भय रहा कि वह चयन करेगा या वापिस भेज देगा। यों इस भभ्भड़ में बहुत सारा अल्लम गल्लम भी बाहर आ रहा है, पर नेट पर अच्छी और दुर्लभ चीजें भी पढ़ने को मिल जाती हैं। पत्रिकाएं तो अमूमन सभी नेट पर उपलब्ध हैं। साइबर बिरादरी में भी साहित्य की पैठ बढ़ी है। देखिये अच्छे या बुरे साहित्य का आकलन हमेशा की तरह समय के भरोसे ही छोड़ा जाना चाहिए। अनुभव की गहराई से लिखा गया साहित्य हमेशा सम्मान पाता है। साहित्य का सारा मामला गहरे पानी पैठ वाला है।

आपको हाल ही में ज्ञान चतुर्वेदी सम्मान मिला आपको बधाई। इसके अतिरिक्त आपकी क्या उपलब्धियाँ हैं ?

धन्यवाद, शैलेन्द्र जी। सम्मान या पुरस्कार से संबल तो मिलता है, खुशी भी होती है कि चलो नोटिस लिया जा रहा है। ज्ञान चतुर्वेदी सम्मान के पीछे मित्रों और खास तौर से व्यंग्यकार दोस्तों का हाथ है। पिछले दिनों इस सम्मान के बहाने दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, इंदौर, भोपाल, जयपुर आदि कई जगहों से अनेक व्यंग्यकार आये, समकालीन व्यंग्य पर विमर्श हुआ लिखने-पढ़ने और चर्चा का वातावरण बना। मेरे व्यंग्य को केंद्र में रखकर भी बातें हुई। डॉ.ज्ञान चतुर्वेदी, जवाहर चौधरी, सुशील सिद्धार्थ आदि ने बहुत सार्थक चर्चा की। मुझे भी बहुत सीखने को मिला। जहाँ तक उपलब्धियों की बात है मुझे नहीं लगता कि इसका आकलन पुरस्कार इत्यादि से किया जाए। मुझे तो हमेशा लिखी जा रही किसी रचना के पूरे हो जाने पर जो सुख मिलता है वह बहुत राहत तलब और उपलब्धिपूर्ण होता है।

आज व्यंग्य सर्वाधिक लिखी जाने वाली विधा है। आपके प्रतिस्पर्धी बढ़गए हैं।

प्रतिस्पर्धा में कोई बुराई नहीं है। प्रतिस्पर्धा स्वस्थ होनी चाहिए। आज व्यंग्य सर्वाधिक इसलिए लिखा जा रहा है कि आदमी व्यवस्था से त्रस्त है। सामाजिक भ्रष्टाचार और राजनीतिक छद्म बढ़ता जा रहा है। व्यंग्य लेखन कहीं न कहीं आदमी को आश्वस्त करता है कि विसंगतियों पर उसकी नज़र है और उनसे लड़ने की तैयारी भी है। इसलिए व्यंग्य की प्रतिष्ठा ज्यादा है। यह अलग बात है कि व्यंग्य से भी आमूलचूल बदलाव संभव होते नहीं दिख रहा है। दरअसल व्यंग्य हो या कोई भी विधा हो साहित्य से चमत्कारिक बदलाव नहीं होते। यह एक कारगर लेकिन धीमी प्रक्रिया है। हाँ, व्यंग्य व्यवस्था के खिलाफ एक बगावती तेवर जरूर तैयार करता है। और व्यंग्य लेखन की सार्थकता भी इसी में है।

कोई व्यंग्य उपन्यास लिखने की योजना है?

सोचा तो है। बल्कि इस दिशा में सक्रिय भी हूँ। लेकिन अभी से कुछ कहना जल्दबाजी होगी। 'राग दरबारी' या 'हम न मरब' जैसी व्यंग्य चेतना के लिए काफी तैयारी की ज़रूरत होती है। और प्रतिभा की भी। उम्मीद है, इस वर्ष करूं। विश्वास के साथ अभी कुछ नहीं कह सकता। कुछ लम्बी व्यंग्य कथाएं भी हैं जिन पर काम कर रहा हूँ।

रेल्वे कॉलोनी, खण्डवा आनंदनगर
फोन - 7389911938

बलिहारी गुरु आपकी

प्रकाश पुरोहित

'आज हम जिनको' आदर्श शिक्षक का सम्मान देने जा रहे हैं, वे कई मायनों में आदर्श हैं, बल्कि यूं मान लीजिए कि सिर से पैर तब बस आदर्श ही आदर्श हैं। यह कम आदर्श की बात है कि सरकारी कॉलेज में शिक्षक रहते हुए, ट्यूशन पढ़ाने का जोखिम उठाया और जब शिकायतों के चलते तबादला हो गया तो उन्होंने गलत काम छोड़ दिया...यानी सरकारी नौकरी छोड़कर फूल टाइम ट्यूशन पढ़ाने लगे। सरकार के कंधों पर चढ़कर अपने पैरों पर खड़े होने का यह अप्रतिम नमूना पेश किया आपने। देश के नौजवानों को आपने यह बताया कि सरकारी नौकरी हमेशा करने की चीज नहीं है, इसमें बहुत जोखिम है और कमाई बहुत कम है। आपने देश में बढ़रही बेरोजगारी को खत्म करने की दिशा में हाड़तोड़ मेहनत की और आज आप ही का प्रताप है कि पूरे शहर में ट्यूशनबाज शिक्षकों की जरा भी कमी नहीं है, फिर सरकारी स्कूल-कॉलेज में शिक्षक भले ही न मिलें।

'कहते हैं ना कि उपदेश देने से बेहतर है कर के दिखाना...तोहमारे इन आदर्श शिक्षक ने उत्तम खेती की तरह सर्वोत्तम ट्यूशन का बीज बोया, जो आज वट-वृक्ष बन गया है। आदर्श शिक्षक को यह तकलीफ हमेशा होती थी कि जिन लोगों की औकात नहीं है, वे भी सरकारी कॉलेज में पढ़ने चले आते हैं और आदर्श शिक्षक को फिजूल में भेजा भटाई करना पड़ती है। कुपात्रों को पढ़ाना भी शिक्षा का और शिक्षक का अपमान है। मुफ्त शिक्षा तो और भी बड़ी बेइज्जती है। घर पर कुछ काम नहीं है। माँ-बाप को झांसा देना है तो कॉलेज चले आते हैं और पढ़ने में नानी मरती है तो क्लास में बोर होने के बजाय सिनेमा में जाकर बैठ जाते हैं। ऐसे में बच्चों को कोई सरकारी शिक्षक आखिर पढ़ाए भी तो क्यों और कैसे? जरूरतमंद को ही शिक्षा मिलनी चाहिए, फोकटिये तो बेगार टालने आते हैं। शिक्षा की कीमत वही जान सकता है, जिसने शिक्षा के लिए कीमत चुकाई हो। अब कीमत वही चुका सकता है ना, जिसके पिता के खीसे में नोट भरे हैं। हमारे आदर्श शिक्षक ने ट्यूशन को वही मुकाम दिलाया, जो कभी सिनेमा में लेखन को सलीम-जावेद ने दिलाया था। नो पेन, नो गेन...ट्यूशन फी का दर्द नहीं होगा...तो बच्चा पढ़ाई क्यों करेगा? जिसको जरूरत नहीं है, उसे मुफ्त में देने से क्या फायदा और जिसे जरूरत है, वह तो किसी भी कीमत पर खरीद ही लेगा।

''... तो हमारे आज के आदर्श शिक्षक ने पढ़ने वाले और न पढ़ने वाले बच्चों को अलग-अलग कर दिया। जो पैसा यानी ट्यूशन-फी दे सकते हैं, वे पढ़ने वाले, होशियार और होनहार और जो नहीं दे सकते, उनके लिए तो सरकारी मास्टर हैं ही। हमारे आदर्श शिक्षक की यह खूबी रही है कि उन्होंने अपने कोचिं इंस्टीट्यूट में इस बात की परवाह नहीं की कि कितने बच्चे एक साथ पढ़रहे हैं। उनका मानना है कि (ट्यूशन फ्री देने वाले) छात्र को शिक्षा पाने का पूरा अधिकार है। यह छात्र का मौलिक नागरिक अधिकार है, फिर पचास की जगह में सौ छात्र ही क्यों ना ठाँसकर बैठाए गए हों। छोटी-मोटी आमसभा जैसी लगने लगती है हमारे आदर्श शिक्षक की क्लास। दिखावे से हमारे आदर्श शिक्षक को परहेज है, इसलिए सारे बच्चे ज़मीन पर बैठते हैं और एक-दूसरे से इतना सट कर बैठना पड़ता है कि कोई चाह कर भी हिल नहीं पाता, उठने की या अंगड़ाई की तो बात ही जाने दीजिए। कहते हैं कि हमारे अदर्श शिक्षक की क्लास में बच्चों की निगाहें और कान आदर्श शिक्षक पर ही लगे रहते हैं...कि कब पढ़ाना बंद करते हैं। वहाँ बैठने वालों को इसके सिवाय कुछ भी सोचने या करने का मौका नहीं मिलता है और वे मन लगाकर पढ़ते हैं डरते हैं, यदि इस बार मन नहीं लगाया तो अगली बार फिर ऐसे ही कैद होना पड़ेगा।

''हमारे आदर्श शिक्षक की यह खूबी क्या कम है कि हमारी संस्था ने न जाने किस ऐरे-गैरे-नत्थूगैरे के नाम पर यह पुरस्कार रखा है और आदर्श शिक्षक ने यह भी नहीं पूछा कि यह बंदा था कौन...। बस, यही पूछा पुरस्कार राशि कितनी है? सबसे एक जैसा व्यवहार...। फीस लेते और पुरस्कार ग्रहण करते एक जैसे सवाल। यही तो आदर्श शिक्षक का गुण है कि वह हर जगह एक जैसा होता है। सरकारी नौकरी में रहते हुए तो वह आदर्श शिक्षक नहीं बन पाता...यह उन्हें पता था जानते थे कि अफसरों की औलादों को घर पढ़ने जाना पड़ेगा और यह भी थैंक्यू सर्विस नहीं, आभार सेवा के रूप में, मगर अब भी वे अफसरों का मान रखते हैं....उनके बच्चों से फीस नहीं लेते हैं। हां, अफसरों के मां-बाप के नाम पर जब आदर्श शिक्षक पुरस्कार घोषित होता है, तो हमारे आदर्श शिक्षक को भरोसा हो जाता है कि उनका नाम ही वहां होगा, जैसा कि इस बार है।

''हम ऐसे आदर्श शिक्षक का सम्मान करते हुए खुश हैं और उम्मीद करते हैं कि दूरदराज के सरकारी कॉलेजों में झक मार रहे शिक्षक आपसे सबक लेंगे और अपने पैरों पर खड़े होंगे। आज बटुआ भर वेतन ला पाते हैं, ट्यूशन करने लगे तो खरी कमाई होगी और थैलों में नोट आने लगेंगे। ऐसा इसलिए भी जरूरी है कि आपके बाद आदर्श शिक्षकों का बेहद अकाल पड़ने वाला है, क्योंकि सरकारी नौकरी छोड़ कर दुकान खोलने वाले शिक्षक अब रह ही कहां गए हैं। हम फिर किसका सम्मान करेंगे? माना कि ये मना नहीं करेंगे, मगर हमें भी तो इनकी इज्जत का खयाल करना चाहिए, कितनी बार सम्मान करें,है कि नहीं!''

14, सम्वाद नगर नौलखा चौराहा, इन्दौर (म.प्र.)

राज कमल

जन्म : 10 नवम्बर 1950 (आगरा उ.प्र.)

शिक्षा : हिंदी साहित्य में एम.ए. दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली से। बी.एफ.ए. की डिग्री कॉलेज ऑफ आर्ट, दिल्ली यूनिवर्सिटी से।

कार्यक्षेत्र : चित्रकार एवं व्यंग्य चित्रकार के रूप में। तीन वर्ष तक प्रकाशन संस्थानः युनाइटिड इंडिया पीरियोडिकल्स प्रा. लिमिटेड दिल्ली, की न्यूज वीकली- 'लिंक' तथा डेली न्यूजपेपर- 'पेट्रियाट' के लिए कार्टूनिस्ट, चित्रकार के साथ-साथ ले-आउट डिजायनिंग का कार्य । बीस वर्ष 'टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन समूह' दिल्ली के कला विभाग में पराग, सारिका, दिनमान, वामा, नव भारत टाइम्स, सांध्य टाइम्स, टाइम्स ऑफ इंडिया आदि पत्र-पत्रिकाओं के लिये सेवाऐं। कई वर्षों तक नवभारत टाइम्स के लिये नियमित कार्टून कॉलम 'गौरतलब' की रचना।

अन्य : प्रौढ़शिक्षा संस्थान, राजस्थान, फ्रैंक ब्रदर्स, दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, उदय इंडिया साप्ताहिक के लिये कार्य नेशनल पब्लिशिंग हाउस, राजकमल प्रकाशन, भावना प्रकाशन, किताबघर प्रकाशन, प्रवीण प्रकाशन, अमन प्रकाशन, कानपुर आदि पुस्तक प्रकाशनों के लिये चित्रांकन एंव मुखपृष्ठ डिजायनिंग का कार्य। दैनिक जागरण राष्ट्रीय संस्करण के लिए गत सात वर्षों तक नियमित कार्टून 'खरी-खरी' की रचना। कई वर्ष इंडियन एक्सप्रेस प्रकाशन समूह के हिंदी दैनिक जनसत्ता के रविवारीय परिशिष्ट के लिए व्यंग्य चित्रांकन। कुछ वर्ष तक आईटी पत्रिका 'कनक्शन मीडिया' के डिजायन डायरेक्टर के पद पर कार्यरत रहे।

फिलवक्त : ई-पेपर 'प्रभा साक्षी डॉट कॉम' के लिए प्रतिदिन कार्टून की रचना तथा स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया की पत्रिका के लिये नियमित चित्रांकन।

प्रकाशित कृतियां: सलीब पर सदी, उलझे रेशम के बीच, घर तिकोने नहीं होते, चुनी हुई कहानियाँ,(सभी कहानी संग्रह) फिर भी शेष (उपन्यास)

उपन्यास 'फिर भी शेष ' पर चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ से लघुशोध भी हुआ।

कुछ ख्यातिलब्ध सर्जकों जैसे- चित्रकार आर. डी. पारिख, मुंबई तथा कवि एवं काष्ठशिल्पी डॉ. नईम, से ऑल इंडिया रेडियो के लिए साक्षात्कार। 'चित्रकथाएं एवं बच्चों का मनोविज्ञान' विषय पर शोधपरक लेख, यात्रा संस्मरण तथा अनेक पुस्तकों पर आलोचनात्मक समीक्षाएं।

संपर्कः
7ए, शांति विहार, अभय खण्ड-3, इंदिरा पुरम,
गाजियाबाद, पिन - 201020. उत्तर प्रदेश.
मोबाइलः 9811616298 तथा 7042448898
ईमेल : saarangkraj@gmail.com

कला और साहित्य ने मुझे जीवन जीने की समझ दी

राजकमल

साहित्य और चित्र कला के क्षेत्र में घुसपैठ मैंने सायास नहीं की, बल्कि इन दोनों विधाओं की ओर मेरा जन्मजात रुझान था। बचपन से यही दो अभिरुचियां थीं, जो सखियों की भांति हमेशा मेरे साथ रहीं। गुणीजन कहते हैं कि दो कश्तियों में सवार व्यक्ति को कभी मंजिल नहीं मिलती। क्योंकि लक्ष्य पाने के लिये, सीधी राह और एकाग्रता बेहद जरूरी है।' लेकिन मुझे न अपनी मंजिल का पता था, न मैं कभी एकाग्र ही हो सका। इसके लिये पारिवारिक स्थितियां जिम्मेदार थीं। तब मेरा एकमात्र लक्ष्य था कि किसी भांति मैं कुछ करूं, जिससे परिवार का भरण-पोषण सहज हो जाए। और किसी तरह दरिद्रनारायण से मुक्ति मिले।

मुझे नहीं पता था- कला क्या बला होती है, या कलाकार कोई विशेष व्यक्ति होता है ? मैं मानता हूं, कला का पहला सोपान- सुंदर और अच्छा लगना है। जिससे मन आनंदित हो। रंग और आकार देखने में मनभावन लगे, रचना रोचक पठनीय और दर्शनीय हो, जिसमें मन रमे, बस! रसास्वादन हो। यह सही है कि चित्रांकन, साहित्य या अन्य कलाएं भी जीवन से उपजती हैं। जिसके मूल में संवेदना निहित है। अपना भोगा हुआ यथार्थ और उसके अनुभव ही कलाकार की अभिव्यक्ति में प्रतिफलित होते हैं। बहुजन की भूख, लाचारी, पीड़ा, झूठ, फरेब, अत्याचार, असमता के त्रास और हताशा से उपजा वर्ग-संघर्ष आदि जैसा सामाजिक यथार्थ कलाकार के भीतर अकुलाहट भरता है- रेखाओं-रंगों में, शब्द-छंदों में, नृत्य-पदों में, स्वरों-ताल में और स्थापत्य की भव्यता में। यही ललित कलाओं का लालित्यपूर्ण आभा मंडल हैं। इसके इतर गौर करें तो लगता है, हर मनुष्य कलाकार है, हुनरमंद है और अपने तईं जीवन भर कलाबाजी करता है। इस कौशल में फर्क सिर्फ इतना है कि वहां वैचारिकता नहीं, केवल व्यावहारिकता है, जीवनयापन की विवशता के साथ। किंतु बहुजन हिताय की वैचारिकता और संवेदना का सामंजस्य कला की कोटि का निर्धारण करता है। मैं इसके आस-पास ही स्वयं को पाता हूं।

इससे अगले सोपान की स्थापना आमजन की नहीं, प्रबुद्धवर्ग का बुद्धि विलास है। जहां रचनाकार अधिक बिकाउ और महंगा होकर जमीन से उपर उठता है। उसका कृतित्व आम पाठक, दर्शक की पहुंच से दूर होता जाता है। अर्थात आम आदमी पर रचना, उसी पर चर्चा, लेकिन वहां आमजन ही नहीं होता। यह वैशिष्ट्यवाद भी समाज के किसी वर्गभेद से कम नहीं। रचनाकार किसी दूसरी दुनिया का जीव होता है, विद्वान और अतिविशिष्ट भी, यह कहां मालूम था मुझे! बहुत बाद में पता चला कि सभी ललित कलाओं का अलग वायवीय संसार है। सच कहूं तो अंग्रेजी भाषा में अल्पज्ञान होने के कारण मैं कला और साहित्य के पाश्चात्य दर्शन का समुचित रूप से चिंतन-मनन नहीं कर सका। समझ ही नहीं पाया कि बिना उन स्थापनाओं पर चर्चा किए नामी कलाकार की प्राणप्रतिष्ठा नहीं हो सकती। दूसरा कारण था- आजीविका और दायित्वों से वक्त भी नहीं

मिला। थोड़ा बहुत हिंदी अनुवाद से पढ़ा। लेकिन जहां ललित कलाओं में स्वयं हिंदी भाषा अछूत की तरह पहचानी जाती हो, वहां उस पर आश्रित कलाकारों की स्थिति, पहचान और मान-सम्मान की विपन्नता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

दो कश्तियों की सवारी मैंने अपनी इच्छा से नहीं की। यह मेरी नियति थी। क्योंकि बचपन से ही नियति ने मुझे दो डोगियां और एक पतवार दी थीं। एक पतवार से दोनों को सही दिशा में गति देना आसान काम नहीं था। लेकिन मैंने ऐसा किया। रूचियों को मैंने सहेलियों-सा मान लिया था। नौ-दस वर्ष का मेरा बचपन जिस भावभूमि पर खड़ा था, वहां बड़ी फिसलन थी। नदी का सूखा किनारा था। या कहूं कि रेत के टीले थे। पैर वहां भी स्थिर नहीं थे। रेत कभी उपर तो कभी नीचे, यानी धंसाव का भय। गोया स्थिरता नहीं थी। इस अस्थिरता के मूल में परिवार की आर्थिक विपन्नता थी। फिर भी नदी हो या रेत के ढूहे, तरलता की संभावना तो थी ही। एक मरीचिका थी जो बहला रही थी मुझको। उस वक्त आठ भाई-बहनों, बाद में दो और जुड़ गये थे, सहित दस जनों का परिवार था। आजीविका का निश्चित साधन नहीं था। क्योंकि खेत-

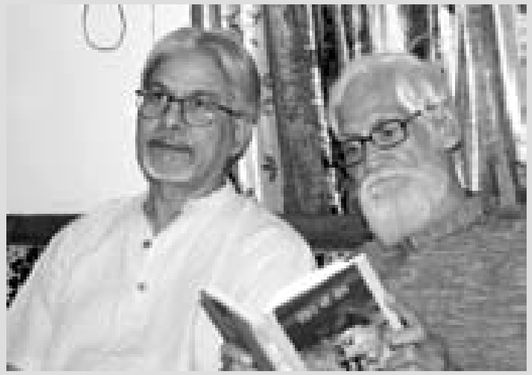

खलिहान फैक्टरियों में तब्दील हो जाने के बाद पिता के पास मजदूरी का ही विकल्प बचा था- कभी मिल में, कभी कारखाने में, तो कभी दुकान पर।

माता पिता दोनों अनपढ़थे। मां को इस बात का अफसोस नहीं था। वह घर-बच्चों की देखरेख में ही खुश थीं। उसे दुःख था तो केवल खुशहाली का- इतने जीव दिये हैं तो भगवान लक्ष्मी का भी वरदान देता।' लेकिन पिता को अनपढ़रह जाने का दुःख था। क्योंकि वे मन-वचन से कलाप्रेमी और लोक कलाकार थे। उनके भीतर कला के बीज थे, जिन्हें अंकुरित होना ही था। उन्होंने स्वाध्याय से पढ़ना-लिखना सीखा। पंचांग से पिंगल तक का ज्ञान अर्जित किया। उन दिनों नाटक मंडलियों में रसिया गायन का बहुत चलन था। मिथकीय तथा जनश्रुतियों पर आधारित लीलाओं का मंचन किया जाता था। पारसी नाटकों के प्रभाव में अतिनाटकीयता के साथ संवाद नगाड़े की चोट पर गूंजते थे। पिता न केवल रसिया, छंद, दोहा, लावनी, बहरतबील में कवित्त लिखते थे, बल्कि स्टेज पर अदायगी के साथ गाते भी थे। वे आशुकवि थे।

इस प्रकार साहित्य की धरोहर मुझे पिता से मिली। उनके संचयन में ढेरों पुस्तकें थीं। जिन्हें उलटने-पलटने और पढ़ने का सुभीता मेरे पास था। उस सस्ते जमाने में एक पैसे की कीमत से लेकर दस रूपए मूल्य तक की किताबें उनके खजाने में थीं। आर्थिक हालात लगातार विकट होते जा रहे थे। मुझे याद है- पिता ने घर में ही खोली हुई दुकान में सामान भरने के लिए एक परिचित धनी से सौ रूपए उधार लिए थे। उस वक्त कर्ज की रकम से उनके चेहरे पर आई खुशी की चमक मैं आज तक भी महसूस करता हूं। और सोचता हूं- कोई कर्ज लेकर इतना खुश कैसे हो सकता है ? लेकिन मुझे ठीक वैसे ही खुशगवार चेहरे आज बैंक से लोन मंजूर होने पर दिखाई देते हैं। पिता को ब्याज सहित सौ रूपए का कर्ज चुकाने में लगभग दस वर्ष लग गए थे। ऐसी विपन्न स्थितियों में कला और साहित्य प्रेमी होना, व्यावहारिक नजरिये से अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारने जैसा ही था। फिर भी उन्होंने कुल्हाड़ी को फेंका नहीं। घायल होते रहे, अपने मन की राह चलते रहे। उनके संचयन में विविध विषयों की पुस्तकें थीं।

उसी उम्र में दूसरी सखी के साथ मैं रंग और रेखाओं से भी खेलने लगा था। यूं तो हर बचपन चित्रकार होता है। मनमुताबिक लकीरें खींचना, कल्पित आकार और मर्जी का रंग-संयोजन करना। कोई कायदा नहीं। नियम और बंदिशें आगे चलकर शुरू होती हैं। हुनर का उम्र से आगे निकलना, कला की श्रेणी बदलता है। मैं उस वर्ग में जल्दी ही पहुंच गया था। अड़ोस-पड़ोस तथा स्कूल में मेरे चित्रों को सराहा जाने लगा था। कलाप्रेम की कुल्हाड़ी अब मेरे हाथ में आगई थी, पर मैं उससे बचता रहा। सोच में भी नहीं आता था कि मैं लेखक या चित्रकार बनूंगा। आर्थिक उलझनों की गुत्थी सुलझाने का एकमात्र उपाय मुझे सूझता था कि किसी तरह दसवीं पास करके किसी सरकारी विभाग में क्लर्क की नौकरी पा जाउं। पिता की जिम्मेदारी में हाथ बटाने के लिए मैंने सड़कों पर सामान बेचा। फिर भी राह कठिन थी। क्योंकि मेरी शिक्षा की लकीर में जैसे साढ़े साती के योग से भी भयंकर अवरोध का योग था, जो स्नात्कोत्तर की पढ़ाई तक मेरे साथ रहा।

इसके अलावा पढ़ने में पॉकेट बुक्स का कथा जगत था और कागज पर फिल्मी सितारों तथा देश के महापुरुषों- महाराणा प्रताप, रानी लक्ष्मीबाई, शिवाजी, गौतमबुद्ध, अंबेडरकर नेहरू, महात्मा गांधी आदि के चित्रों की नकल करने का शौक बरकरार था। कुछ महीने विज्ञापन पेंट करने वाले एक स्टूडियो में भी गया। वहां से ग्राफ बनाकर नकल करना सीखा। जिससे चित्र सुंदर और अनुपात में बनने लगे।

खास बात यह रही कि जीवन के हर विषम मोड़ पर सखी चित्रकला ने मेरा साथ दिया। जब पढ़ाई की सारी उम्मीदें ध्वस्त हो चुकी थीं। तब मेरे चित्रकारी-हुनर ने ही मुझे बचाया। हुआ कुछ ऐसे कि एक दिन पिता के परिचित फैक्टरी के मालिक कुंदन लाल घर आए। मैं फर्श पर कागज-रंग फैलाये बड़ी तल्लीनता से चित्र बना रहा था। पिता घर पर नहीं थे। मां घर के कामों में व्यस्त थीं। कुंदन लाल उन्हीं से एक दो बात करके लौट गये। कुछ दिनों बाद पिता ने एक ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटोग्राफ मुझे देते हुए कहा कि किसी सूरत यह चित्र बना दे, तेरा स्कूल में दाखिला हो जायेगा।' मैं अचंभित हुआ और भीतर से विचलित भी। क्योंकि मुझे केमरे के फोटो की नकल अभी तक बहुत मुश्किल लगती थी। इसलिये आत्मविश्वास डगमगा रहा था। पिता ने हौसला देकर कहा- तू इसे पेंसिल से बना, कोई कमी-वेशी होगी तो कुदंन लाल ठीक कर लेंगे।' आखिर मैंने पूछ ही लिया कि यह किसका फोटो है'' तब पिता ने पूरा किस्सा बयान किया। बोले- कुदंन लाल ने तुझे घर पर चित्र बनाते देखा था तो मुझे ताना मारा। कहा, 'चाचा, ऐसे होनहार बच्चे को घर बिठाकर उसकी जिंदगी बर्बाद कर रहे हो।' मैंने भी तुरंत नहले पर दहला मार दिया, कहा कि आप इतने पढ़े-लिखे और रसूखदार हो, आप क्यों नहीं कुछ करते, वह आपका भी तो कुछ लगता है... मैंने तो बहुत कोशिश करके देख ली।'

पिता का दहला काम कर गया। कुदंन लाल को शायद बात छू गई या वाकई अपने रसूख का गुमान हो आया। वे नई दिल्ली नगर पालिका, मंदिर मार्ग के स्कूल गये। जहां उनके बचपन के दो दोस्त सक्सेना और गोयल पढाते थे। उन्हें मेरे हुनर और मेरी बदकिस्मती के बारे में बताया। सुयोग से स्कूल के प्रिंसिपल बंगाली थे। उनका कलाप्रेमी होना स्वभाविक ही था। नाम था- पीसी सेन गुप्ता। कुदंन लाल के मित्रों ने मश्वरा दिया कि प्रिंसिपल सर का एक चित्र बनवा दो, बाकी हम संभाल लेंगे। सचमुच उन लोगों ने सब संभाल लिया। मेरे द्वारा बनाया प्रिंसिपल का चित्र तथा मेरे अन्य आर्टवर्क के साथ मुझे पीसी सेन गुप्ता के सामने पेश कर दिया। योजना सफल होगई। प्रिसिपल साहब अपना चित्र देखकर मुस्कराये, फिर एक क्षण मुझे देखा और हां कह दिया। मुझे आठवीं कक्षा में बिना टेस्ट के प्रवेश ही नहीं मिला। पढ़ाई फिर पटरी पर आ गई।

कला ही थी, जो मुझे बार-बार उबार रही थी। उसने मुझे अंततः कॉलेज तक पहुंच दिया। अभी भी मेरे ख्वाबोख्याल में नहीं था कि मैं चित्रकार बनूंगा। इस दौरान छुटपुट कुछ न कुछ लिखता भी रहा- कहानी, कविता, गीत, बस! ऐसे ही। पढ़ने में अब देवकीनदंन खत्री, दुर्गा प्रसाद खत्री, प्रेमचंद, शरतचद्र, गुरूदत्त, धर्मवीर भारती, अमृतलाल नागर, कमलेश्वर, भगवतीचरण वर्मा, आचार्य चतुरसेन, शिवानी, अमृता प्रीतम आदि के साथ-साथ जासूसी कथा साहित्य का भी चस्का लगा हुआ था। इब्ने शफी बीए, कर्नल रंजीत, सुरेंद्र मोहन पाठक, ओमप्रकाश शर्मा आदि का ऐसा असर हुआ कि स्वयं एक जासूसी उपन्यास लिख डाला। नाम रखा- खूनी दफीना। चावड़ी बाजार जाकर उसे प्रकाशित करवाने का प्रयास भी किया। किंतु प्रकाशक ने छापने से इंकार कर दिया था। अंतर्मुखी होने के कारण मेरा दायरा बहुत सीमित था। लजीले स्वभाव की वजह से लोगों से मिलता-जुलता भी नहीं था। इसलिए रचना प्रकाशन के रास्ते मेरे लिये बहुत देर से खुले।

प्राकृतिक रूप से प्रेमबीज सभी के भीतर अंकुराता है। केवल अनुकूलित नमी-ताप और हवा की जरूरत होती है। मैं सोच भी नहीं सकता था कि मेरे जैसे बेढब हालातों वाले व्यक्ति से भी कोई प्रेम करेगा। मगर प्यार का सितारा बुलंद और रोशन निकला। एक बड़ी प्यारी, सुंदर, अलमस्त लड़की ने मुझसे प्रेम किया और बड़ी शिद्दत से किया। उसका नाम है - कमल प्रभा। उसके नाम में आधा तो मैं समाया ही हुआ था। आज भी उसका यही नाम है। मसला अगड़े-पिछड़े वर्ग से भी अधिक सम्पन्न और विपन्न स्थितियों का था। विरोध होना था, हुआ भी। तब प्रभा की चाहत और उसके हौसले ने ही मुझे मजबूत बनाया था। दूसरे पक्ष ने भी सदाशयता दिखाई और प्रेम का परिणाम ऑनर किलिंग तक न जाकर सहमति से विवाह की हैप्पी एंडिग में हुआ। इस जीत का सारा श्रेय कमल प्रभा को है। उस लड़की ने हवनकुंड में आहुति नहीं, जैसे स्वयं को ही अर्पित कर दिया था। हवन कुंड भी नहीं, उसने अपनी पूरी चेतना के साथ, समझ-बूझकर एक नरक कुंड में छलांग लगाई थी- मिटने के लिये। क्या किसी के लिये मर-मिटने को ही प्यार कहते है ? जिम्मेदारियों के बोझ से लदी गाड़ी में वह मेरे साथ जुए में जुत गई। परिवार में खुशहाली उसके प्यार और बलिदान से ही आयी। आज मैं लेखक और चित्रकार के तौर पर जिस भी मुकाम तक पहुंचा हूं- यह प्रभा के सतत सहयोग के बिना कतई संभव नहीं था।

छिटपुट लेखन से साहित्यिक रूचि की भूख मिट रही थी। लेखन में भी एकाग्रता या प्राथमिकता जैसा भाव अभी मेरे मन में नहीं था। फिर भी बी.ए. के बाद मैंने हिंदी साहित्य में एम.ए. के लिए सांध्यकालीन आर्ट फैकल्टी में दाखिला ले लिया। यह सोचकर कि साहित्य पढ़कर समझ बढ़ेगी तथा रचनात्मकता में सहयोग मिलेगा। और यदि अच्छे अंक आ गये तो शिक्षा के क्षेत्र में नौकरी पाने की संभावना बन जाएगी। कला से रोजी-रोटी कमाने के लिये मैं अभी भी एजुकेशनल पब्लिशर्स के लिए पीवीसी पर ग्राफ, भौगोलिक नक्शे, अक्षर ज्ञान के चार्ट आदि बना रहा था। प्रभा भी प्राईवेट नौकरी कर रही थी। चित्रकार बन कर जीवन गुजारने का विचार अभी भी मेरे मन में नहीं था। लेकिन एम.ए. में श्रेणी अच्छी नही आई। आगे गली बंद थी। स्कूल में शिक्षक बनने के लिये भी बी.एड. करना जरूरी था। इस बीच सरकारी क्लर्क बनने के लिये भी हाथ-पांव मारे, सफलता नहीं मिली। आत्मविश्वास और डूब गया- मैं नौकरी के लायक नहीं हूं। उसके लिये जिस ज्ञान की जरूरत होती है, शायद वह मेरे पास नहीं हैं।' प्रभा को प्राईवेट नौकरी के बाद इंडियन एअर लाइंस में नौकरी मिल गई थी। पूरे परिवार के लिये बड़ी राहत की बात थी।

चित्रकला ने फिर मेरा हाथ थाम लिया, बोली- मैं हूं न! चल, मेरे साथ चल!' मैं चुपचाप उसके पीछे चल पड़ा। मैं,1978, में अखबार के पन्ने पर कॉलेज ऑफ आर्ट, दिल्ली में बी.एफ.ए. के लिये प्रवेश-सूचना छपी थी। बिना ज्यादा सोच-विचार के मैंने फॉर्म भर दिया। प्रवेश परीक्षा में सफल होकर कर, मैं बीएफए का फुल टाइम विद्यार्थी बन गया। मैंने व्यावसायिक दृष्टि से अप्लाइड आर्ट विषय चुना था। क्योंकि फाइन पेंटिंग के लिये मेरे पास न समय था और न पैसा। मुझे तो तुरंत रोजगार की जरूरत थी। मई,1983 में कोर्स पूरा कर लेने के बाद मुझे जो पहली नौकरी मिली, मैंने ले ली। अंग्रेजी के पेट्रियाट डेली तथा लिंक साप्ताहिक के लिए इलस्टरेटर-डिजाइनर का कार्यभार मुझे मिला। वहां काम करते हुए, राजनीतिक सूझबूझ बढ़ी। कैरीकैचर तथा मुखपृष्ठ के लिए व्यंग्यात्मक चित्र बनाकर अच्छा लगने लगा। अहसास हुआ कि अपने प्रकार से अपनी राय जाहिर करने का अच्छा अवसर है। अबु इब्राहिम, मिकी पटेल, सुधीर धर, काक, राजेंद्र घोड़पकर आदि नामवर व्यंग्यचित्रकारों से मिलना हुआ।

तीन साल के बाद टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन समूह की बाल पत्रिका पराग में काम करने का अवसर मिला। पांच वर्षों तक वहीं जमा रहा। अनेक नामी-गिरामी पत्रकार-लेखक- हरिकृष्ण देवसरे, कन्हैया लाल नंदन, मृणाल पांडे, अवध नारायण मुद्गल, लक्ष्मीचंद गुप्त, रमेश बत्रा, बलराम, जवाहर कौल, संतोष तिवारी, सुभाष अखिल, महेश दर्पण, वीरेंद्र जैन, सुरेश उनियाल आदि का सानिध्य रहा। मैं कहानियां भी लिख रहा था, जो पत्र-पत्रिकाओं से खेद सहित वापस आ जाती थीं। सारिका में भी दो कहानियां कई साल तक पड़ी रहीं। 1990 में नवभारत टाइम्स में तबादला हो गया। वहां और भी विस्तृत पत्रकार-जगत था। अब मैंने स्वयं को व्यंग्यचित्रों पर केंद्रित कर लिया था। प्रतिदिन पॉकेट कार्टून का कॉलम 'गौरतलब' यहीं से शुरू हुआ। जिसके लिये मुझे नवभारत टाइम्स के तत्कालीन संपादक सूर्यकांत बाली ने बहुत सहयोग किया। मैंने महसूस किया कि कहानी जितना लालित्य कार्टून में न सही, पर विचारों की सटीक अभिव्यक्ति का माध्यम तो है ही। इसकी पहुंच सबसे निचले पायदान पर खड़े आदमी तक है। और सामाजिक सरोकारों से प्रतिबद्धता के साथ जनमानस का नजरिया सत्ता के समक्ष रखने का संतोष भी है। यहां मुझे वरिष्ठ तथा ख्यातिलब्ध पत्रकार, लेखकों- विष्णु खरे,, मधुसूदन आनंद, राजकिशोर, विभावसु तिवारी, हेमंत अग्रवाल, गोविंद सिंह, बालमुकुन्द, इब्बार रब्बी, संजय अभिज्ञान, नीरेंद्र नागर, दिलवर गोठी, संजय खाती आदि के साथ कार्य करने का लाभ मिला।

मेरा अभी भी दो कश्तियों पर सफर जारी है। यदि खास मुकाम पाया नहीं, तो समुद्र में डूबा भी नहीं हूं। बचपन की दोनों सखियों ने मुझे थाम रखा है। तीसरी सखी भी चवालीस वर्षों से मेरी हमकदम है। कलाओं और साहित्य ने मुझे जीवन जीने की समझ भी दी है।

7ए, शांति विहार, अभय खंड-3, इंद्रापुरम, गाजियाबाद, पिन-201020
9811616298-7042448898

पक्षधरता और निरंकुशता दोनों ही कला की उत्कृष्टता में बाधक है

राजकमल

चित्रकला में कार्टून विधा का विकास महज संयोग नहीं, बल्कि पूरी चेतना के साथ राजनीतिक-सामाजिक सरोकारों के प्रति सापेक्ष पहल थी। पश्चिम में कॉमिक्स तथा व्यंग्य चित्रों की शुरूआत पहले हो चुकी थी। हमने इसे बहुत बाद में अपनाया। राजनीतिक सामाजिक उथल-पुथल के बीच बुद्धिजीवी चित्रकारों ने कम से कम समय में अपने विचार को लोगों तक सम्प्रेषित करने का नायाब तरीका कार्टून के रूप में ईजाद किया। जो मात्र शुष्क विचार नहीं, मनोरंजक भी था। निसंदेह इसका श्रेय कार्टूनिस्ट शंकर पिल्लई को जाता है, जिन्होंने देश में एक नयी विधा की सर्जना की। धीरे-धीरे इसका दायरा राजनीति से बढ़कर सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों तक विस्तृत होता गया। राजनीतिक स्थितियों, सामाजिक विसंगतियों, कुरीतियों धार्मिक आडंबरों आदि विविध विषयों पर कार्टून बनने लगे। आगे चलकर समय के साथ पारिवारिक संबंध, रोजमर्रा के कामकाज आदि विषय भी कार्टूनिस्टों की पैनी नजर से नहीं बचे।

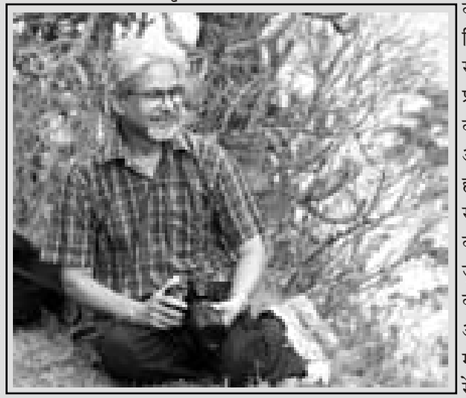

कार्टून के अनेक प्रकार हैं। कैरीकेचर, में व्यक्ति विशेष के चेहरे, शरीर की भावभंगिमा को डिस्टोरशन के साथ उसकी कारगुजारी या विचारों को इंगित किया जाता है। इसमें डायलॉग नहीं होता। केवल चित्र की प्रधानता होती है और जो हास्य के साथ चित्रकार के मंतव्य को उजागर करती है। कुछ कार्टून मात्र परिस्थितिजन्य हास्य का सहारा लेते हैं। इनमें भी संवाद की आवश्यकता नहीं होती। चरित्र और संवाद के सम्मिलित माध्यम से बनने वाले कार्टून्स का चलन सर्वाधिक रहा है। इसी क्रम में स्ट्रिप का भी चलन शुरू हुआ जिसमें बात को अधिक नाटकीय रूप देने की सुविधा थी। मूक कार्टून से संवाद की ओर बढ़ते हुए, एक और बदलाव आया। कुछ कार्टूनिस्टों ने पहचान और प्रतीक के लिये विशेष चरित्रों का निर्माण भी किया। जैसे आरके लक्ष्मण का कॉमन मेन। काक का 'देहाती ओल्ड मेन' सुधीर तैलंग का 'पत्रकार', साबु का शहरी 'बाबूजी', आबिद का 'ढब्बूजी' तथा माधव जोशी का 'पगड़ी पुरुष' आदि। कुछ ने पशु-पक्षियों को भी चरित्र बनाकर अपनी बात कही। अबु इब्राहिम, बाला साहेब ठाकरे, मारियो मिरांडा, विभूति भूषण, सुधीर धर, शेखर गुरेरा, राजेन्द्र धड़ोपकर तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अनेकानेक व्यंग्य चित्रकारों ने अपने रुझान, अपने शिल्प से इस विधा को विकसित और समृद्ध किया।

आकर्षक और सार्थक व्यंग्यचित्र की रचना आसान नहीं है। यह तलवार की धार पर नंगे पांव चलने जैसा कठिन और जोखिम भरा काम है, जिसमें सावधानी बरतना निहायत जरूरी है। इसके लिये जरूरी है कि रचना की बौद्धिक सूझबूझ व्यापक और निरपेक्ष हो। कलाकार की पक्षधरता व उसकी निरंकुशता, दोनों ही कला की उत्कृष्टता के लिये घातक हैं। किन्तु रचनाकार भी उसी समाज का हिस्सा है, जिसके लिये वह रचनाशील है। उसकी प्रतिबद्धता किसी विशेष वर्ग, सम्प्रदाय, धर्म, या विचारधारा के प्रति हो सकती है।

समय के साथ हमारे सामाजिक और राजनीतिक हालात बहुत बदले हैं। इस संक्रमणकाल में बोलने की आजादी की बढ़ती मांग से जहां असहिष्णुता बढ़ी है तो दूसरी ओर आक्रामकता भी। विचारधारा में परस्पर ग्राह्यता घटी है। कट्टरपन का इजाफा हुआ है। मेरा विचार है कि बोलने, और पाने के संवैधानिक अधिकारों के बावजूद व्यक्ति को आत्म-नियंत्रण की एक सीमा रेखा स्वयं खींचनी चाहिए, जिसका वह अतिक्रमण न करे। अपनी स्वतंत्रता के कारण दूसरे की आजादी का भी हनन न हो। जनहित में एक कलाकार का दायित्व और भी अधिक है। उसके लिये जरूरी है कि वह निरंकुशता से बचे। क्योंकि वह भी समाज का हिस्सा है, उससे अलग या उपर नहीं।

गंभीर और संवेदनशील विषय पर वक्रता के साथ चोट करना कार्टून कला की पहली विशेषता है। मूक व्यंग्यचित्र तो श्रेष्ठ वर्ग में आता ही है। कार्टून में कम शब्दों का प्रयोग भी उसके स्तर का मानक तय करता है। कार्टून की शिल्पगत विशेषता यह भी है कि चित्र में रेखाएं कम और सरल हों। अर्थात विषय और रेखाओं का सरलीकरण एक अच्छे कार्टून की पहचान है। कार्टून विधा का फलक बहुत व्यापक है। विषयगत देखें तो कुछ कार्टून संदर्भ और समय से जुड़े होते हैं। कुछ समय बाद वे प्रासंगिक नहीं रहते। और कुछ व्यंग्यचित्र कालातीत होते हैं, जिनका विषय कभी अप्रासंगिक नहीं होता। वर्षों बाद भी उनका हास्य और मारक क्षमता चुकती नहीं। समाचार पत्र-पत्रिकाओं के लिये बनने वाले कार्टून अधिकतर संदर्भ, घटना विशेष से जुड़े होने के कारण अल्पजीवी होते हैं। कार्टून बनाने की प्रक्रिया में एक और बात अहम् है- व्यंग्यचित्र में संवाद या विचार का महत्व अधिक है या चित्रात्मकता, उसकी रेखाओं का? यह प्रश्न विमर्श का विषय हो सकता है। विद्वजनों में मतांतर भी हो सकता है। मगर मेरे विचार से दोनों इकाइयाँ महत्त्वपूर्ण हैं। परस्पर पूरक हैं। दोनों के बेहतर योग से ही एक अच्छे, सार्थक व्यंग्यचित्र की रचना होती है। जैसे सटीक विचार-संवाद सम्यक रेखांकन के बिना अधूरा और नीरस लगेगा ठीक वैसे ही केवल सुंदर चित्र भी बिना चुटीले संवाद के प्रभावित करेगा। फिर भी चूँकि यह चित्रकला की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसलिए चित्र की प्रधानता को नकारा नहीं जा सकता। यह भी देखा गया है कि अधिकतर कार्टूनिस्ट पहले चित्रकार रहे हैं, बाद में उन्होंने विशेष रुझान के तहत इस विधा को अपनाया है।

मेरा मानना है कि व्यंग्यचित्रों के प्रति बढ़ते रुझान, आकर्षण और जनमानस में प्रखर होती राजनीतिक चेतना के बावजूद आज पत्र-पत्रिकाओं में कार्टून की अहमियत कम हुई है। पहले कार्टूनिस्ट और उसका कार्टून कॉलम अखबार की साख हुआ करते थे। अब ऐसी अनिवार्यता नहीं दिखती। नयी टेक्नॉलॉजी के चलते इस कला क्षेत्र में अलग तरह का विस्तार हुआ है। कम्प्यूटर पर नये-नये साफ्टवेयर के द्वारा उकेरी गई, रंगीन सजीली आकृतियां अब लोगों को अधिक लुभाती हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया इस विधा का निर्वाह एनीमेटिड व्यंग्य चित्रों से कर रहा है। हाथ से खींची रेखाओं का महत्व सिमट गया है। कलाकार की उंगलियां अब माउस से खेलती हैं। लेकिन चाहे जितना भी तकनीकी बदलाव आये, रेखाओं की सटीक बानगी तो चित्रकार की विचारशीलता और उसकी उंगलियों के स्पंदन में ही रहेगी।

कार्टून

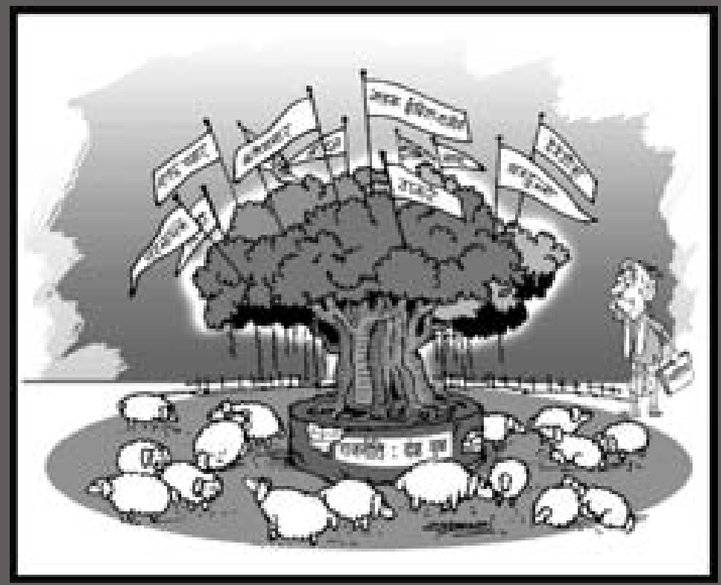

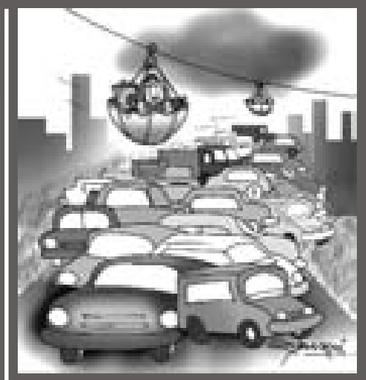

साहित्य और कला विपरीत ध्रुव नहीं है

कार्टूनिस्ट राजकमल से कथाकार बलराम की बातचीत

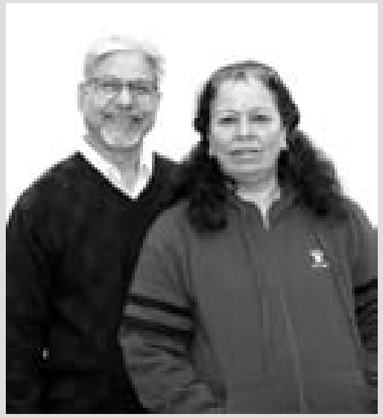

अपने उस प्रारंभिक जीवन के बारे में बताएं, जिसने आपको चित्रकार और लेखक बना दिया ?

मेरा चित्रकार होना विशुद्ध रूप से प्रकृति-प्रदत्त ही है। जिसे आप जन्मजात भी कहते हैं। बचपन का शौक था। चित्रों की नकल बनाया करता था। गॉव में मुझसे बड़े दो लड़के और थे, जिन्हें इसमें रूचि थी। केवल रूचि ही नहीं, एक तो बाकायदा ड्राइंग विषय का छात्र था। आगे चलकर वह कला-शिक्षक बन गया था। दूसरा लड़का हमारा पड़ोसी था, जो बिल्कुल अनपढ़ था। वह घरों के दरो-ओ-दीवारों की सजावट में बहुत सुन्दर चित्रकारी करता था। इन दोनों को चित्र बनाते हुए देखकर मैं बहुत प्रेरित होता था। और सोचता था, एक दिन मैं भी इतने सुन्दर चित्र बनाऊंगा।

मगर मेरी राह बहुत मुश्किल थी। माता-पिता गरीब थे। उनका दस बच्चों वाला बड़ा परिवार था। ऐसे में सुख-सुविधाओं के अभाव के अलावा रोजमर्रा के जीवन का ही संकट था। विकट संघर्षशील स्थितियों में बचपन बीता। उसके बाद तक भी जीवन में संघर्ष और चुनौतियॉ बनी रहीं। दरअसल पिता नियमित नौकरीपेशा नहीं थे। उन्होंने अनेक काम किए- कपड़ा मिल में काम किया, कारखानों में मजदूर रहे, परचून की दुकान की, कैटरिंग का धंधा किया। स्थायित्व नहीं था। और चूंकि दस भाई-बहनों में मुझे बड़ा पुत्र होने का रूतबा हासिल था। इसलिए परिवार की जिम्मेदारियों का भार सबसे पहले मैंने ही महसूस किया।

लेकिन मेरे लेखक बनने में पिता की अहम् भूमिका रही। वे अनपढ़थे। मगर अपनी रुचि, लगन और मेहनत से वे न केवल साक्षर बने बल्कि स्वध्याय के बल पर कहानी, कवित्त, तथा लोक संगीत का अच्छा ज्ञान भी उन्होंने अर्जित किया। वे आशुकवि थे। संगीत मंडली में स्वरचित रचनाओं का मंच पर पाठ और अभिनय भी किया करते थे। सही मायनों में वे संपूर्ण लोक कलाकार थे। घर में अन्य अभावों के बावजूद साहित्य की विविध विधाओं- संगीत, नाटक, कहानी, उपन्यास, गीता, महाभारत, पुराण, युग पुरुषों की जीवनी से लेकर व्याकरण और पिंगल ज्ञान तक की पुस्तकों का भंडार था। दस-ग्यारह साल की उम्र से साहित्य पढ़ना शुरू कर दिया था और लगभग सत्तरह-अठारह की उम्र में जासूसी उपन्यासों से प्रभावित होकर 'दफीना' शीर्षक से एक उपन्यास भी लिख डाला। जिसे चावड़ी बाजार में किसी प्रकाशक को छपने के लिए भी दिया था। प्रकाशक ने मेरी भाषाशैली पर क्लिष्टता का विश्लेषण लगा कर उपन्यास लौटा दिया था। इस प्रकार चित्रकला तथा साहित्य मेरे जीवन की विशेष अभिरुचियॉ बन गईं। मेरे लिए वास्तव में आत्मसंतोष तथा आनंद का अहसास यह रहा कि एक अभिरुचि आजीवन मेरी आजीविका का साधन बन रही और दूसरी को मैंने पिता की धरोहर या आर्शीवाद मान कर उसे अपने से अलग नहीं होने दिया।

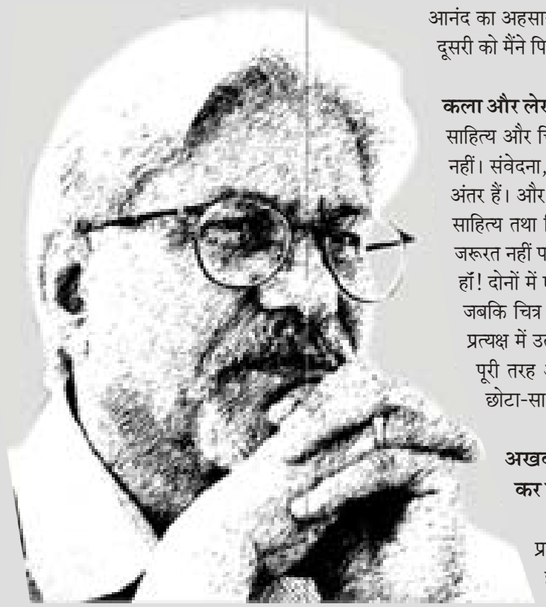

कला और लेखन दो विपरीत धुव्र लगते हैं, दोनों को एक साथ कैसे साध लेते हैं ?

साहित्य और चित्रकला दो विपरीत धुव्र नहीं हैं। भेद मूल में नहीं है और उनके सरोकारों में भी नहीं। संवेदना, अनुसंधान और फिर संरचना- दोनों की यही प्रक्रिया है। सम्प्रेषण के माध्यम में अंतर हैं। और माध्यम के प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। वैसे भी ललित कलाओं के वर्गीकरण में साहित्य तथा चित्रकला क्रमशः साथ-साथ हैं। उसके लिए अलग-अलग विशेष उपादानों की जरूरत नहीं पड़ती। इसलिए भी दोनों को साध लेने में मुझे कोई मुश्किल पेश नहीं आती।

हॉ! दोनों में एक अंतर मान लेता हूँ। जैसे मैं लेखन के समय संगीत का आनंद नहीं ले पाता। जबकि चित्र बनाते समय संगीत कभी बाधा नहीं बनता। चूंकि चित्र की प्रक्रिया में परोक्ष से प्रत्यक्ष में उतरने जैसा होता है। जिसे अभ्यस्त हाथ और दृष्टि संपूर्ण योग देते हैं। पर लेखन पूरी तरह अमूर्त, अप्रत्यक्ष है। अवचेतन से चेतन तक निरंतरता में है। और इस गति में छोटा-सा भी व्यवधान रचना के सारे सूत्रों को काट देता है, भटका देता है।

अखबारों तथा पत्र-पत्रिकाओं में चित्रकारी करते हुए भी इतना लेखन कैसे कर पाए ?

सच तो यह है कि मैंने ज्यादा लेखन किया ही नहीं है। क्योंकि लेखन मेरी प्राथमिकता में नहीं रहा और जैसा मैंने कहा कि दोनों विषय मेरी अभिरुचियॉ हैं, इसलिए जब जो करता हूँ उसमें डूबता हूँ और आनंद लेता हूँ। चित्रकला मेरा पेशा जरूर बन गई, तो भी उसे मैंने केवल पेशे की सीमाओं तक ही सीमित रखा।

उसे अपने नैतिक दायित्व और प्राथमिकताओं पर हावी नहीं होने दिया। मेरे विचार से जो कला का अभीष्ट है, उसका उत्स है- वो जीवन में ही है। वायवीय होना- एक भ्रम है, नशा है। इसलिए जीवन पहले और कला बाद में। मैं यह मान सकता हूँ कि मैं अच्छा लेखक या बेहतरीन कलाकार बेशक न सही, किंतु एक संवेदनशील कलाप्रेमी अवश्य हूँ।

लेखन में किस लेखक ने प्रभावित किया ?

किसी लेखक से प्रभावित होना दो स्तरों पर हो सकता है। पहला लेखक के व्यक्तित्व से, दूसरा उसकी रचना से। रचना सामने होती है, हर स्तर पर खुली हुई। उससे प्रभावित हुआ जा सकता है। जबकि व्यक्तित्व की परख, जटिल प्रक्रिया है। लेखक की भॉति पाठक भी अनवरत विकास करता है। एक पाठक के तौर पर अनेक लेखकों की रचनाओं ने मुझे प्रभावित किया। किंतु मेरे लेखन पर उनका प्रभाव नहीं पड़ा। यदि पड़ा है, तब इसे मेरे पाठक ही बता पाएंगे।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के चलते साहित्य खतरे में है क्या ?

आंकड़ों का पता नहीं, लेकिन लगता यही है कि बढ़ते बाजारवाद के प्रभाव में आज की पीढ़ी में साहित्य की प्रासंगिकता घटी जरूर है। पहले किशोरवय से ही साहित्य प्रेमियों की पौध तैयार करने वाली पत्र-पत्रिकाएं, तिलिस्मी, जासूसी व सामाजिक उपन्यास का खाद-पानी की तरह होती थीं। जो अब नहीं है। अब तो विविध ऐप्स के जरिए चैटिंग, जोक्स, व अन्य-अनेक जानकारियों की शेयरिंग का जमाना हैं, जिसमें साहित्य की भूमिका नगण्य ही है। और वह भी हाशिये के लोगों तक उपलब्ध नहीं है। बेशक ई-मीडिया ने इस विधा को संकुचित किया है, जबकि नृत्य-संगीत, नाट्य, चित्रकला आदि कलाओं में इस माध्यम से पेशेवर विस्तार हुआ है।

जीवन में बहुत कुछ मिला, लेकिन कुछ है जो मिलना चाहिए था, पर नहीं मिला, उसे लेकर क्या सोचते हैं ?

किसी शायर की बेहतरीन पंक्तियॉ हैं- 'कभी किसी को मुक्मिल जहॉ नहीं मिलता.... कहीं जमीं तो कहीं आसमां नहीं मिलता... ' इसके बाद कुछ और कहने-सुनने की गुंजाइश नहीं रहती।

कहते हैं साहित्य और कला सृजन में स्त्री-पुरूष तथा दलित और सवर्ण का भेद मिट जाता है। समकालीन स्त्री और दलित विमर्श को ध्यान में रखते हुए कुछ कहेंगे ?

साहित्य भी ललित कला है। केवल सत्य और न्याय की पक्षधरता ही कला को प्रगतिशील बनाती है, उसे नए आयाम देती है। इसलिए कहूँगा कि कला सृजन में स्त्री-पुरुष, दलित-सवर्ण, जातिवाद आदि विमर्श का कला में सीधा हस्तक्षेप नारेबाजी के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह तत्व कला की अन्तर्धारा हो सकते हैं- बाहरी साज-सज्जा नहीं। वाद-वर्ग, जाति, लिंग में बंटकर कलाकर्म करना, यथा स्थितिवाद या यथार्थ का चित्रण मात्र ही होगा, कलाकार का अभीष्ट नहीं। यह तो व्यष्टि से समष्टि की यात्रा है। लेकिन आज व्यक्तिवाद और जाति-वर्गवाद का बोलवाला है। दरअसल यह पहचान और सत्ता में भागीदारी की लड़ाई है। इसलिए वर्तमान में जीवन का कोई क्षेत्र, कोई गतिविधि राजनीति से अछूती नहीं है। कला भी अपवाद नहीं, उस पर भी राजनीतिक प्रभाव हैं।

प्रेम की एक दृष्टि व्यक्तिगत होती है, दूसरी सामाजिक। आप किसे ज्यादा महत्व देते हैं ? प्रेम को अपने उपन्यास 'फिर भी शेष' में किस रूप में व्याख्यायित करेंगे ?

प्रेम बहुस्तरीय होता है। अलौकिक, सूक्ष्म और स्थूल भी। केले के पत्तों की भॉति परत-दर-परत... और अंत में शून्य! शून्य का फलक बहुत व्यापक है। वह किसी एक में नहीं, अनंत में व्याख्यायित होता है- जो समष्टि है, विराट है। लेकिन उसका आरंभ निजता से ही होता है। स्थूल से सूक्ष्म और शून्य तक! यह एक सतत यात्रा है।

सी-69 उपकार अपार्टमेंट्स
मयूर विहार- फेज-1 (विस्तार) दिल्ली-110091
मोबाइल : 09810333933

गूंगे का गुड़

श्रीराम दवे

कब किसने और क्यों ''गूंगे का गुड़'जैसे मुहावरे को शब्द दिये कुछ समझ में नहीं आया। क्या इसका अर्थ यह हो सकता है कि गूंगे आदमी को गुड़ ही पसन्द है या क्या वह अपने जीवन में जरा सा भी नमकीन नहीं है? क्या उसे नमक का स्वाद मालूम ही नहीं है? क्या उसे मीठा ही पसन्द है? ऐसे कई प्रश्नों की झड़ी लग सकती है और लगना भी चाहिए। किन्तु जैसे ही मुहावरों के अर्थ वाली किताब देखी तो ज्ञान चक्षु कुछ यों खुले कि -''गूंगे व्यक्ति को गुड़ खिलाया जाये तो वह उसका स्वाद नहीं बता सकता।' हमारी समझ में यह नहीं आया कि जो व्यक्ति गुड़ का स्वाद नहीं बता सके उससे गुड़ का स्वाद पूछा ही क्यों जाए?

दरअसल गुड़ का स्वाद तो प्रतीक मात्र है असली बात तो गूंगा बना रहना है। देश में कितने ऐसे लोग है जो रोज न जाने क्या-क्या खा रहे हैं और उफ तक नहीं कर रहे हैं- स्वाद बताना तो दूर की बात है! इधर महंगाई कुछ इस कदर बढ़ी हुई है कि लोग गुड़ तो ठीक नमक तक का स्वाद नहीं बता पा रहे हैं। गुड़ और नमक ही क्या लोग तो पानी तक का असली स्वाद उसकी कीमत देख-सुनकर भूल गये हैं। जब पानी का स्वाद और अर्थ ही याद नहीं आ रहा हो तो भाईचारे, एकता और सौहार्द्र जैसे शब्दों का अर्थ विस्मृत होना मामूली बात है और शायद यही कारण है कि वसंत आने से पहले और बीच वसंत के दिनों में कोयलें भी नहीं बोल रही है, कौए तो श्राद्ध पक्ष में भी नहीं दिखाई देते हैं। सवाल यह है कि क्या ये सभी गूंगे हो गये हैं? या ये भी मौसम को अनुभव तो करते हैं लेकिन अनुभूति को अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं? कुछ लोग प्रेम में आकंठ डुबे हुए लोगों से प्रेम की परिभाषा पूछते रहे हैं लेकिन शायद ही कोई सही-सही बता पाया है क्योंकि प्रेम अनुभव का विषय है, अभिव्यक्ति का मोहताज नहीं। इसलिए लोग प्रेम में प्रायः गूंगे हो जाया करते हैं।

कहना न होगा कि इधर अभिव्यक्ति भी गूंगे के गुड़ जैसी होती जा रही है। गुड़ का स्वाद गूंगे द्वारा भले ही अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता हो किन्तु वह लिखित में तो अपनी अभिव्यक्ति दे ही सकता है! समझ में नहीं आ रहा है कि क्या हर गूंगा व्यक्ति निरक्षर है? निश्चित ही ऐसा नहीं होगा! जरूर कोई तकनीकी लोचा है। अर्थात गूंगे रहने के कई फायदे शायद समझ में आते जा रहे हैं और यही कारण है कि ज्ञानी-ध्यानी, पढ़े-लिखे, तेज-तर्रार और निरक्षर तक गूंगे बन कर इन दिनों गुड़ पर हाथ मारे जा रहे हैं और 'बेचारे' कहलाकर भी खुश हैं तथा यह उम्मीद कर रहे हैं कि- 'आज गुड़ ही सही कल शक्कर भी खाने को मिलेगी और कोई स्वाद भी नहीं पूछेगा!'

ऐसा प्रतीत होता है कि गूंगा बने रहना भी अब किसी अमूर्त कला का ही कोई प्रकार है गोया गूंगा बने रहना एक कला है जिसे साधने के लिए तपस्या और अभ्यास इन दिनों ज्यादा ही जोरों पर है। लोग आँखों देखा हुआ सच निगल रहे हैं और गूंगे बने हुए हैं जो आँखों देखा हुआ सच निगल नहीं पा रहे हैं, वे बोल रहे हैं और लिखित अभिव्यक्तियाँ देकर अपने विरोधियों को प्रतिक्रिया के लिए बाध्य कर रहे हैं- 'आ बैल मुझे मार' की तर्ज पर! कई लोग पिट चुके हैं तो कुछ लोग बेमौत मारे जा चुके हैं- इस 'गूंगे नहीं होने' की कवायद में।

समय का तक़ाजा है कि गूंगा रहने में ही ज्यादा फायदा है। वैसे भी कहा गया है कि काम वही करना चाहिए जिसमें फायदा ज्यादा हो और नुकसान कम!

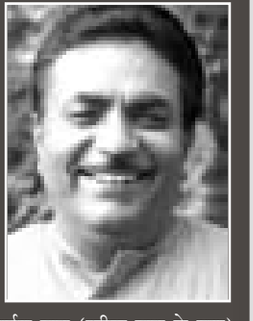

26 निर्माण नगर (रवीन्द्र नगर के पास)
उज्जैन - 456010
मो. नं. 9425915010

कमलाकर सोनटक्के

सुप्रसिद्ध रंगकर्मी एवं डॉ.बाबा साहेब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय औरंगाबाद में नाट्यकला विभाग के विभाग प्रमुख, ब्रिटिश कॉउन्सिल फैलोशिप के अंतर्गत यू.के. लंदन, मेनचेस्टर, ब्रिस्टल आदि शहरों के अलावा फ्रांस, ईटली, जर्मनी, हॉलेण्ड आदि की शैक्षणिक यात्रा करने वाले प्रो. कमलाकर सोनटक्के न केवल हिन्दी साहित्य में परास्नातक है बल्कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली से नाट्यकला में पत्रोपाधि प्राप्त एक बहुआयामी व्यक्तित्व है।

देश के पहले बहुभाषी नाट्य प्रशिक्षण सेंटर प्रवीण एकेडमी मुम्बई के प्रमुख के रूप में आपने 250 से अधिक अभिनेता, निदेशक सहित रंगकर्म की विभिन्न विधाओं के लोगों को न केवल प्रशिक्षित किया बल्कि उनमें से 150 से अधिक आज भी विभिन्न भाषाओं की फ़िल्मों और टी.वी.शो में अपनी भूमिकाओं का सफलता पूर्वक निर्वहन कर रहे हैं। ठीक इसी तरह उनके 50 से अधिक विद्यार्थी विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक तथा शासकीय-अर्द्धशासकीय संस्थानों में कार्यरत हैं।

आप महाराष्ट्र सरकार के संस्कृति विभाग तथा साऊथ सेन्ट्रल झोन कल्चरल सेंटर नागपुर के संचालक सहित आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, कर्नाटक आदि राज्यों के प्रभारी रहकर लोक और पारंपरिक तथा प्रदर्शन कलाओं के संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं। राष्ट्रीय ख्याति की संस्था नेहरू सेंटर के प्रमुख कार्यपालिक पद पर वर्षों तक कार्यरत रहे श्री सोनटक्के 1998 से लगातार भारत सरकार के संस्कृति विभाग तथा रक्षा मंत्रालय सहित युवा मामलो के मंत्रालय आदि के फ्री लांस सलाहकार भी रहे हैं।

हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी, गुजराती आदि के 50 से अधिक नाटकों के निर्देशन, 15 से अधिक पूर्ण नाटकों का मराठी से हिन्दी में अनुवाद तथा 10 नाटकों का हिन्दी और अंग्रेज़ी से मराठी में अनुवाद करने वाले सानेटक्के जी ने 30 से अधिक नाटक सहित हिन्दी फीचर फ़िल्मों जैसे 'प्रहार', 'अमानत', 'खुशी', 'कहीं खुशी कहीं गम' तथा दूरदर्शन के कई धारावाहिकों में प्रभावी अभिनय किया है। देश के कई महत्त्वपूर्ण कला संस्थानों से वर्षों तक शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक सहभागिता करने वाले प्रो.कमलाकर सोनटक्के को कई सम्मान भी प्राप्त हुए हैं जिनमें प्रमुख है - नाट्य दर्पण सम्मान 2000, महाराष्ट्र कला गौरव सम्मान 2003 तथा संगीत नाटक अकादमी सम्मान 2013 आदि।

सम्पर्क :- 601, गोपाल निवास
तेजपाल स्कीम नं.5,
विले पार्ले (पूर्व)
मुम्बई - 400057
मो.नं.- 9821463703

''चमक दमक के लिये आया हूँ - यह कोई कहेगा ही नहीं''

सुप्रसिद्ध रंगकर्मी, प्रशासक और अभिनेता श्री कमलाकर सोनटक्के से ख्यात लेखिका निर्मला डोसी की बातचीत

रंगकर्म के एक स्कूल का नाम है श्री कमलाकर सोनटक्के। जहाँ आरम्भ से अंत तक सब कुछ सीखा जा सकता है, वो भी अनेक भाषाओं तथा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवों के साथ। उनके बहुआयामी कार्यक्षेत्र की लम्बी फेहरिस्त तथा भारी भरकम परिचय पढ़कर तो कोई भी साक्षात्कारकर्ता आंतकित हो सकता है। मैं भी हुई थी, किन्तु फोन पर सहृदयता से भरी आवाज़ ने आश्वस्त कर दिया था।
उम्र के सातवें आठवें दशक में भी उनका सुदर्शन व्यक्तित्त्व, आत्मविश्वास से भरपूर गूँजती आवाज़ तथा ज्ञान की रोशनी से दिपदिपाती आँखें और दो-तीन घंटे लगातार बोलते चले जाने की अर्हता ने मुझे अभिभूत तो किया ही, साथ ही इस सच से भी परिचित करवाया कि जिनकी दृष्टि साफ तथा दृष्टिकोण स्पष्ट हो, अपने विषय पर गहन जानकारियों का अकूत खज़ाना भरा हो तो उपरोक्त विशेषताएँ स्वत: व्यक्तित्व में स्थायी रूप से आ जाती है। अस्वस्थता या बढ़ती उम्र के स्वाभाविक व्यवधान भी उनकी जीवंतता को बाधित नहीं कर सकते। अनुशासित जीवनचर्या तथा कार्य के प्रति समर्पित निष्ठा हो, तो कार्यक्षेत्रों की जटिलताएँ कभी बढ़ते कदमों को रोकती नहीं हैं।
बहरहाल उनसे बात करके बड़ी आश्वस्ती का अहसास हुआ। शांत, शालीन, सुंदर व मीठा बोलने वाली उनकी सहधर्मिणी श्रीमती कंचन सोनटक्के से मिल कर खुशी हुयी यह जानकर कि पिछले छत्तीस वर्षों से वे अपंग बच्चों के लिये काम कर रही है। सार्थक कार्य की मनचाही परिणती उनके खूबसूरत चेहरे पर स्पष्ट पढ़ी जा सकती है। सोनटक्के जी से हुई बातचीत कुछ इस तरह से है -

निर्मला डोसी - हिन्दी में पोस्ट ग्रेजुएशन करने के पश्चात एन.एस.डी. से आपने ड्रामाटिक आर्ट में डिप्लोमा लिया, फिर ब्रिटिश काउंसिल की फेलोशिप लेकर दो वर्ष के लिए ब्रिटिश थियेटर पढ़ने गये अर्थात् रंगकर्म की तरफ आपका रुझान प्रारम्भ से ही दिखता है। किसी से प्रेरित होकर ऐसा हुआ या घर का माहौल ऐसा मिला। सर ! बात जन्म और बचपन से ही शुरु की जाए ?

कमलाकर सोनटक्के - बहुत अच्छे। अजन्ता के पास बड़ोद जाथा छोटा सा मेरा गाँव है, जहाँ आज भी 15-20 मकान पक्के हैं बाकि सारे कच्ची मिट्टी के घर हैं। घर में ऐसा कोई माहौल तो नहीं था पर उस समय हमारे गाँव में होली व चैत्र महीने में 'यात्राएँ' हुआ करती थीं। स्वांग निकाले जाते थे। उस वक्त मनोरंजन का दूसरा कोई साधन नहीं था। मेलों में 'तमाशा' हुआ करता था। वह ठोस नाटक का रूप तो नहीं था। मध्ययुगीन वीर रस, शृंगार रस या फिर सामाजिक विषयों पर कथाएँ होती थी। वही देखते-देखते बड़े हुए।

शिक्षा कहाँ हुयी ?

शिक्षा के प्रति भी हमारे गांव में विशेष जागरुकता नहीं थी। पहले ग्रेज्यूएट होने वाले बैच में से मैं भी हूँ। कॉलेज में कोई ऐच्छिक विषय लेकर पढ़ने का चलन नहीं था। कोई मार्गदर्शन भी नहीं था। मैं एक सामान्य विद्यार्थी था। प्रारंभिक शिक्षा में मेरी नींव मजबूत नहीं थी। जिज्ञासु प्रवृत्ति थी, अतः जो पढ़ाया जाता उसे गहरायी से समझ ज़रूर लेता था हमारा गाँव औरंगाबाद से 41कि.मी. पड़ता है। मैं पढ़ने लिए औरंगाबाद में कमरा लेकर रहता था। स्वयं पाकी था। कभी-कभी दादी माँ आकर भी रहती थी मेरे साथ। एन.सी.सी.का अनुशासन, कड़क कलफ लगी वर्दी पहन कर परेड करते केडेट, मुझे बहुत आकर्षित किया करते। देश प्रेम की भावना जोर मारती। देखा जाए तो उस वक़्त दो चीज़ें अनजाने ही मेरे साथ हो गयी। पहला नाटक तथा दूसरा एन.सी.सी.में भर्ती होना। पढ़ाई चल ही रही थी।

'नाटक' की शुरुआत किस तरह हुयी ?

हमारे कॉलेज में विश्वविद्यालयिन प्रतियोगिताएँ थी। सन् 57-58 की बात है, मैं बिल्कुल नया था पर 'देशमुख सर' की मेहरबानी से मुझे पहला अवसर मिला। हाव भाव के साथ प्रस्तुत करने के कारण चयनकर्ता खासे प्रभावित हो गए। उसके बाद तो कॉलेज के हर अवसर पर मुझे मौका मिल जाता। उन्हीं दिनों 'न्यूज स्टॉप न्यूज' कॉमेडी का मराठी रूपांतर करके कॉलेज के वार्षिक उत्सव में खेला गया, जिसमें मेरी मुख्य भूमिका थी। मेरी आंगिक भंगिमा, बोलने का अंदाज़, अभिनय, उच्चारण वगैरा के कारण मैं शहर भर में चर्चित हो गया। सब एक दूसरे से कहते 'उस नए लड़के का काम देखा क्या ?' इस तरह पहले वर्ष मराठी, दूसरे वर्ष में हिन्दी तथा मराठी तथा तीसरे वर्ष में अंग्रेज़ी, हिन्दी मराठी सभी नाटकों में 'लीड' रोल किया और बड़ी सराहना पायी। तीसरे वर्ष एन. सी. सी. से 'सी' सर्टिफिकेट मिलता, जिससे सीधे आर्मी ज्वाइन की जा सकती थी। मैं चाहता भी यही था किन्तु मेरी दादी माँ ने यह नहीं होने दिया।
औरंगाबाद के बाहर 'अमलदार' नाटक पहली बार खेला गया। पी. एल. देशपांडे ने रशियन नाटककार की कथावस्तु लेकर कमाल का नाटक बनाया था। दुर्गा भागवत, दुर्गा खोटे, नाना साहब जैसी कई बड़ी हस्तियाँ जज के बतौर आये थे। खचाखच भरा सभागार और तालियाँ, बड़ा आनंद आया। वहीं मैंने एम.ए.किया। यदि नाटक में ही केरियर बनाना है, तो अगली मंजिल एन.एस.डी.थी।

बिल्कुल वहाँ से दीक्षित हुए बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता था। वहाँ जाना किस तरह संभव हुआ ?

मुश्किल तो बहुत था। तीन वर्ष के लिये दिल्ली जाने की इज़ाज़त घर से मिलनी बड़ी मुश्किल थी। खर्च का प्रश्न भी था। स्कालरशिप तो बाद की बात थी। बांड भरना, आवेदन भेजना, जाना, और साक्षात्कार देना अर्थात अनेको

समस्याएँ सामने खड़ी थी। नेहरूजी के बहुत करीबी सांसद मामा वरेरकर एन. एस.डी के संस्थापक थे। वहाँ से आवेदन पत्र मंगा लिया था, तो भई तकदीर आजमाने चले गए दिल्ली। साक्षात्कार के दौरान हाव-भाव के साथ विख्यात कवि बिंदा करंदीकर की ओजस्वी कविता पढ़ी, वो तो पसंद आ गयी उन्हें पर सवाल-जवाब में मेरी कमजोरी उन्होंने पकड़ ली। मैंने भी कह दिया कि छोटी जगह के कारण ज्यादा नहीं जानते, किन्तु अवसर मिला तो पीछे नहीं हटेंगे। साक्षात्कारकर्ता भी समझ गए कि, जोश भरपूर है। अनेक अड़चनों के बावजूद दाखिला हो ही गया, पर बाद में जो सबसे बड़ी अड़चन थी उससे स्वयं मैं भी घबरा गया।

अच्छा ! वो क्या थी ?

वहाँ सभी विषय अंग्रेज़ी में पढ़ाए जाते थे और मेरे लिये यह बड़ी मुश्किल थी क्योंकि मेरी अंग्रेज़ी मामूली थी। मैं जल्दी ही समझ गया कि यहाँ मेरी गाड़ी ज्यादा नहीं चल पाएगी। लिहाजा भाग जाने का तिकड़म भिड़ाया पर अब्राहम अल्का जी जैसे गुरु की तीक्ष्ण नज़रों से बच नहीं पाया, पकड़ा गया। उन्होंने बड़ी सहृदयता से आश्वस्त किया कि यह कोई बड़ी मुश्किल नहीं है कोशिश करने पर सीखी जा सकती है। पीठ पर उन्होंने प्रोत्साहन का हाथ धरा, उसके बाद तो हर प्रोजेक्ट में मुझे शामिल किया तथा नतीजा यह रहा, कि प्रथम वर्ष में जैसे-तैसे पास हुआ, किन्तु तीसरे वर्ष एन.एस.डी.का गोल्ड मेडलिस्ट तथा बेस्ट स्टुडेंट तथा भरत पुरस्कार' प्राप्तकर्ता रहा।

अरे वाह ! क्या बात है ।

हाँ यही हुआ । मैं जाना अभिनेता के तौर पर जाता हूँ किन्तु वहाँ से मैंने विशेषज्ञता डायरेक्शन में की थी।

एन.एस.डी.के अनुभव बताएँ ?

वहाँ बीता समय सच कहूँ तो 'गोल्डन पीरियड' था। बड़े अच्छे लोगों का साथ मिला। सुधा शिवपुरी, ओम शिवपुरी, राम गोपाल बजाज, मोहन महर्षि जैसे दिग्गज कलाकारों के साथ काम किया। मुझे वहाँ का प्रिफेक्ट बना दिया गया। तब आयोजित होने वाले कार्यक्रम, यात्राएँ, टाइम टेबिल सब, मैं ही बनाता। लोग कहा करते कि 'सोनटक्के' ने एन.एस.डी.का माहौल बदल कर रख दिया। दरअसल अल्काजी की कृपा दृष्टि से ही यह संभव हो सका। तीन वर्ष एन.एस.डी.के बाद दो वर्ष रेपेरटरी में पढ़ाने का मौका भी मिला। सुरेखा सीकरी, उत्तरा बावरकर, श्यामा जैन, श्री दत्ता स्वामीनाथन, सविता बजाज, कांचन सभी उस वक़्त एन.एस.डी.में अध्ययन कर रही थी। बड़ा यादगार वक़्त था वो।

निर्देशक के बतौर अपने अनुभव बताएँ ?

मैं नाटकों का निर्देशन पढ़ाई के समय और बाद में लगातार करता रहा। म्यूजिकल नाटक, पारंपरिक नाटक सब किये। 'जस्माओडन' को सब आज तक याद करते हैं। मैं तो 'पंडवाणी' और 'यक्ष ज्ञान' वगैरा भी करना चाहता था, किन्तु उसके लिये जिम्मेदारी लेने वाला कोई नहीं था। एन.एस.डी.में पहली बार आंचलिक भाषा का नाटक मराठी में मेरे निर्देशन में खेला गया। 'गोदान' को विष्णु प्रभाकर जी ने 'होरी' के नाम से एडप्ट किया था। उसमें 'होरी' की भूमिका मैंने की थी। अल्का जी पहले 'गोदान' के लिये सहमत नहीं थे किन्तु हमारे रिहर्सल देखने पर उन्होंने नाटक करने की इज़ाजत दे दी। वो एक अद्भुत प्रयोग था, जिसमें सब कुछ वास्तविक था। खेत-खलिहान, गाय-गाँव, बैलगाड़ी, कुँआ, बावड़ी, किसान, मजदूर सब कुछ और स्वयं अल्का जी ने उस साल का 'सीजन' गोदान से शुरु करने का कहा। मेरे लिये इससे बड़ा कम्प्लीमेंट दूसरा कोई हो नहीं सकता था।

वाह ! क्या बात है ?

हाँ यकीन मानें, कैसा माहौल बना उस दिन केनेपी लगायी गयी, प्रेसीडेंट आए और भी जाने-माने अतिथि उपस्थित थे। 'होरी' के बारह शो हुए। अख़बारों में फोटो, लेख, समीक्षा, प्रशंसा खूब मिली। बड़े प्रॉडक्शन से भी ज्यादा चर्चित हो गया हमारा 'होरी'। कारण यह भी था कि अब तक 'आषाढ़का एक दिन' छोड़ दें, तो दूसरा कोई नाटक किसी भी भारतीय भाषा में हुआ ही नहीं था। बाद में 'अंधायुग' में 'युधिष्ठिर' किया, 'संजय' किया और 'अश्वत्थामा' भी किया। 'द फादर', 'किंग लेयर', 'इस्ट वेस्ट' इत्यादि सब प्रसिद्ध नाटक किये। तभी एक सेमिनार हुआ। 16 देशों के नाटक आए थे। सारे शेक्सपीयर के एडप्शन थे या डायरेक्ट थे। सबसे बेहतर उनमें से हमारे 'किंग लेयर' को माना गया। सच कहूँ तो तब हम 'हवा में थे'।

वाकई वह तो स्वाभाविक है। कोई यादगार घटना ?

यादगार घटनाएँ तो अनेक हैं ....पर अभी हां....तो सुनिये, ओम शिवपुरी अल्का जी को अंकल कहते थे। 'किंग लेयर' को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया, उस दिन बोले - 'आज तो अंकल बड़े खुश होंगे, हम उनसे कॉफी पीते हैं। इतने में ही हमेशा की तरह अल्काजी सीढ़ियों से उतरते दिखे। पूरी तरह चाकचोबंद अपनी फाइलों को हाथ में लिये। हमारी खुसर-फुसर भांप ली थी शायद। पहले चारों तरफ चक्कर लगाया, हाथ की उंगली में धूल लगी, जब खिड़की पर हाथ फिराया तो। उस पर एक पी हुयी सिगरेट का टोटा और दिख गया। कड़क कर उँगलियाँ दिखाते बोले यह क्या है ? प्रिफेक्ट हो तुम यहाँ के। बड़े-बड़े लोग आयेंगे यहाँ... क्या कहेंगे और कड़क कर बोले, 'फाइन लगा दो 5 रुपए नोटिस बोर्ड पर लिख कर टांग दो। फिर जब हमने एक दूसरे को देखा तो, तो बोले ' 'यस'। उनके इस 'यस' बोलने की अदा पर तो बड़ों-बड़ों की घिग्घी बंध जाती थी। सो काफी तो उनसे क्या माँगते अब। तो साहब ऐसा ही वातावरण था

हमारे एन. एस. डी. का। प्यार भी बहुत था लेकिन अनुशासन उससे भी कहीं ज्यादा था। जरा सी ढील की कहीं गुंजाइश ही नहीं रहती थी। 6 महीने में एक कार्यक्रम राष्ट्रपति भवन में होता जिसकी सारी जिम्मेदारी मुझ पर रहती थी। पहले दिन वहाँ जाकर सारी व्यवस्था देखनी होती थी। इसी तरह प्रशासनिक कार्यों के संयोजन की शिक्षा भी साथ-साथ मिलती रही।

एन.एस.डी.से निकलने के बाद क्या किया ?

दिल्ली एन.एस.डी.में पाँच वर्ष बिताए, उस दौरान अनेक नाटकों के अनुवाद किये। मराठी, हिन्दी, व मलयाली-हिंदी। वे नाटक खेले भी गए। ब्रेख्त के नाटकों के अनुवाद किये। दिल्ली की संस्थाओं के लिये 'बाजीराव', 'शान्ततः कोर्ट चालू आहे' को हिन्दी में किया। उस वक़्त बाहर की संस्थाओं को अनुवाद करके देता, मंच सामग्री भी देता था। एन.एस.डी.में था तो बाहर से जितने भी मेहमान आते उन्हें एन.एस.डी.दिखाने की जिम्मेदारी मेरी ही होती। 'इलिया कज़ान', 'रिचर्ड एटन बरो', 'गोविंद वल्लभपंत', 'सत्यजीत रे' कौन-कौन नहीं आए। उसी वक़्त महाराष्ट्र से एक डेलीगेशन आया, जिन्हें मैंने पूरा एन. एस.डी.घुमाया। फिर वे अल्का जी से बोले कि 'वे मुम्बई में ऐसा ही एक ट्रेनिंग सेंटर बनाना चाहते हैं, उन्हें अच्छा प्रशिक्षक चाहिये जो मराठी भाषी भी हो। डेलीगेशन में मधुकर राव चौधरी के साथ कल्चरल मिनिस्टर भी थे। उन्होंने मुझसे भी कहा कि यहाँ समाप्त हो जाए, तो आ जाओ। मैं गया और मैंने स्पष्ट किया कि मैं सप्ताह में प्रतिदिन शाम को तीन घंटे पढ़ाऊंगा। 20 से ज्यादा छात्र नहीं लूंगा उन्हें ही लूंगा, जो वास्तव में सीखने वाले हों। इस तरह पहली बार साहित्य संघ में 'पोस्ट ग्रजुऐशन इन ड्रामा' का नया कोर्स शुरु हुआ। तब के पढ़े 80प्रतिशत छात्र आप रंगमंच, टेलीविजन या फ़िल्मों में

सम्मान के साथ अपनी आजीविका कमा रहे हैं।

ब्रिटिश काउंसिल फेलोशिप' के दौरान अनेक देशों में जाने के अवसर मिले। वह अनुभव कैसे रहे ?

मुझसे पहले पी. एल. देशपांडे, सुरेश अवस्थी जी को ब्रिटिश काउंसिल फेलोशिप मिली थी। उन्हें तीन महीने की मिली जबकि मुझे डेढ़वर्ष की मिली। मैं वहाँ होने वाले रंगकर्म को देखने ऑब्जरवर की हैसियत से भेजा गया था। यह नई पोस्ट थी। वहाँ बड़े-बड़े रंगकर्मियों के प्रॉडक्शन देखने को मिले। सबके साथ उठना-बैठना, खाना-पीना चलता। उनसे मुझे बहुत कुछ नया देखने और सीखने को मिला। मैं उनसे माँग कर काम लेता। 'एड वर्मन' से सेट डिजाइनिंग का काम लिया तो 'डबल विल' में भी काम किया। जो देखता वहाँ, उसकी रात विस्तार से रिर्पोट बनाता और भारत भेजता, जो बहुत पसंद की जाती। इस तरह का प्रतिसाद अब तक किसी को नहीं मिला था। मेयाफेरो, बिटरवुट जैसे विख्यात नाम रंग जगत के, और उनके साथ बैठ कर विमर्श करना तथा रिर्पोट बनाना बड़ा दिलचस्प तथा ज्ञानवर्धन कार्य हुआ करता। सभी तरह के अनुभव मुझे दिनों दिन समृद्ध कर रहे थे। मैंने डेढ़वर्ष तक ब्रिटिश थियेटर देख लिये थे, अब मैं यूरोपीय थियेटर भी देखना चाहता था। उसके लिये मैंने 6 महीने का वहाँ रहने का एक्सटेंशन ले लिया और पूरा यूरोप घूमा। वहाँ से लौटते ही मुझे मराठवाड़ा युनिवर्सिटी का बुलावा आ गया, जहाँ मैंने 6 वर्ष तक काम किया। उन्हीं दिनों शादी हो गयी थी, दो बच्चियाँ भी हो गयी थी।

मराठवाड़ा युनिवर्सिटी में व्यतीत समय पर बात करें।

हाँ वहाँ भी पहली बार पोस्ट ग्रेजुऐशन इन ड्रामा कोर्स शुरु किया गया। डॉक्टर, वकील, ऑफिस में काम करने वाले अनेक रंगकर्म के प्रेमी व जिज्ञासु आए। वहाँ का सारा लिटरेचर खुद मैंने बनाया। मैं दुनिया देख कर आया था तो विश्वविद्यालय की अन्य जिम्मेदारियों में भी खींच लिया गया। स्पोर्ट्स कॉम्प्लेक्स, हॉस्टल, लड़कियों का हॉस्टल, लायब्रेरी हो या यू. जी. सी. का कोई मसला हो, कोई योजना बनानी हो या प्रशासन से बात करनी हो मुझे आगे कर दिया जाता, क्योंकि एन.एस.डी.के समय से ही वहाँ के प्रोटोकॉल मैं जानता था। इस तरह छः साल वहाँ काम किया फिर मुम्बई आ गया।

मुम्बई में आकर नाटक शुरु किये या अध्यापन ?

मुम्बई आकर दो वर्ष तक प्रोफेशनल थियेटर किया। 250-300 शो किये। तभी इण्डियन थियेटर के दामुजवेरी ने कहा तुम 'इब्राहिम अलकाजी' के छात्र हो। प्रोफेशनल थियेटर तुम्हारा काम नहीं है। बेहतरीन शिक्षक व प्रशिक्षक हो, वहीं बने रहो। बच्चों को पढ़ाओं। तब आई.एन.टी.(इंडियन नेशनल थियेटर) में 2 साल का कोर्स प्रवीण अकादमी में शुरु किया। गुजराती, मराठी, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी भाषा में। वहाँ भी बाहर का कोई आदमी नहीं था। लिखने से लेकर डिजाइन, कास्ट्यूम, प्रॉपर्टी, शो मैनेजमेंट वो भी चक्राकार अर्थात हर विद्यार्थी को सब कुछ सीखना है। वहाँ संजीदगी से काम कर ही रहा था कि मुझे डायरेक्टर ऑफ कल्चर से ऑफर आ गया और मैं प्रशासन में चला गया। यह 85-86 की बात है।

प्रशासनिक क्षेत्र में जाने का अनुभव कैसा रहा ?

तीन वर्ष इस पद पर रहा। स्वभाव के अनुसार जाते ही, वहाँ अनेक गुणात्मक परिवर्तन किये। प्लानिंग कमीशन की तरफ से अपने विभाग का बजट ग्यारह

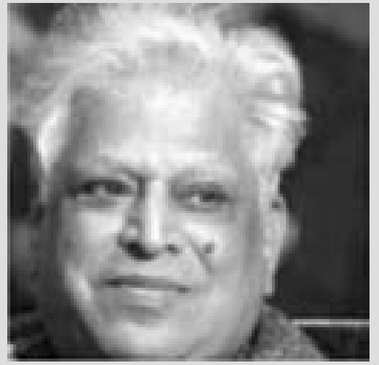

गुणा बढ़वाया तथा मंच के पीछे जो लोग काम करते हैं उनके विकास पर विशेष ध्यान दिलवाया। अनेक पुरस्कार शुरु किये, प्रतियोगिताएँ करवायीं। 'तमाशा' कीर्तन इत्यादि पारम्परिक विधाओं के लिये प्रशिक्षण, संशोधन तथा प्रदर्शन जैसे त्रिआयामी कार्यक्रम करवाए। साल भर में आठ-आठ फेस्टीवल करवाए जिससे धन भी जुटा तथा भरपूर दर्शक भी।

कला के प्रति सच्ची आस्था एक बात होती है और चमक-दमक की दुनिया में जाने से पहले रंगकर्म को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करने की मंशा, बिल्कुल दूसरी बात। आप इस बात से कितना इत्तफाक़ रखते हैं ?

चमक-दमक की दुनिया माने फ़िल्म की दुनिया, दूरदर्शन को आप व्यावसायिक दुनिया नहीं कह सकते। थियेटर तो कभी व्यावसायिक था ही नहीं और 'चमक-दमक के लिए आया हूँ' यह कोई कहेगा नहीं। निष्ठा से मंच करना चाहता हूँ कहेगा यही। मेरी अपनी धारणा है कि आप चाहे किसी भी विधा से हों पर जब तक आप उसके सिद्धांत पक्ष के मूल भाव को पूर्णतः आत्मसात नहीं करते, जब तक जो प्रत्यक्ष हो रहा है उसका गुणांकन नहीं बढ़ा सकते तो फिर रोजमर्रा के ढर्रे में ढाल दिये जाएंगे। जब तक आपकी गुणात्मकता नहीं बढ़ती और अपेक्षा रखे कि लोग मुझे देखने आयें, यह हो नहीं सकता। गुणात्मकता के लिये निरंतर प्रशिक्षण की ज़रूरत है, भले 'हुसैन साहब' हों या 'तैय्यब मेहता' या फिर 'गायतोंडे', वे चित्र भले 45 मिनट या 1 घंटे में बना लेते हों। किन्तु उसके पीछे उनकी कितनी तपस्या होती है, तैयारी होती है वह सब उसमें उतरती है। यही बात हमारे क्षेत्र में भी है। डॉ. लागु, ओमपुरी, बलराज साहनी, नसीर साहब को क्यों महान रंगकर्मी मानते हैं ये लोग चमक-धमक रंगरूप में कोसों दूर थे, किन्तु इन्होंने कड़ा श्रम करके अपनी अंदरुनी चमक को उभारा और इसके लिए अपने-आप को बौद्धिक, मानसिक तथा शारीरिक रूप से खंगालना पड़ता है। दुनिया से चार कदम आगे रहना पड़ता है। पॉपुलर ढंग का काम भी आसान नहीं होता। कोई कर भी ले किन्तु दर्शकों की स्वीकृति मिलना ज़रा भी आसान नहीं होता। सर्वोत्तम की सर्वदूर तक प्रशंसा होती है।

आप अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते वक़्त किन महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर गंभीरता से मनन करने का कहते हैं ?

प्रशिक्षक होने के नाते मेरी दृष्टि ज़रा अलग है। मैं अच्छे छात्रों के साथ रहूँगा तो उन्हें पढ़ा नहीं पाऊंगा। जो मेरे पास स्वेच्छा से आयें हैं, कुछ करना चाहते है, उसके साथ यात्रा करना मुझे अच्छा लगता है। मुझे सभी को एक स्तर पर लाना है। जीनियस तो क्रियेट नहीं किये जा सकते पर वे सभी स्तरीय हो जाएँ, वही अच्छा है। लोगों को चमत्कार लगे, पर मेरे लिये यह प्रक्रिया है। मैं उनको गढ़ता नहीं हूँ वे स्वयं उस स्वरूप में ढलना चाहते हैं, तभी हो पाता है। प्रशिक्षण को मैं संवाद मानता हूँ। अब तक मुझे पूरा विद्यार्थी मिला ही नहीं है। वह आलसी हो सकता है नाकारा हो सकता है पर उसकी कमियों को दूर करना मेरी जिम्मेदारी बन जाती है।

सर ! आज के समय में ऐसी जिम्मेदारी कोई समझे, वह कहीं दिखता ही नहीं, दूर करना तो बड़े दूर की बात है ?

मैं ऐसा ही हूँ। भारत भर में मैं बड़े सख्त किस्म के प्रशिक्षक के रूप में जाना जाता हूँ। कठोर, अनुशासन के प्रति सजग मैं अपने शिष्यों को शारीरिक दंड देता रहा हूँ, भले लड़के हों या लड़की। अब शरीर से दंड न दूँ पर इतनी प्रताड़ना करता हूँ क्योंकि कि उन पर पड़े, अज्ञान के पर्दे हटाना मेरी जिम्मेदारी है। कुछ को कड़ायी से कहना काफी होता है पर कुछ को झंझोड़ना पड़ता है। नतीजा यह हैं कि मेरे प्रशिक्षित दो लोग भी कहीं होते हैं तो मैं बखूबी जानता हूँ वे ए ग्रेड का काम करवा लेंगे। सभी को साथ लेकर चलेगें। इसके लिये विज्ञान, व्याकरण,विधी सबको आत्मसात करना आना चाहिये। स्पोनटेनियसली आना चाहिये। और यह संभव है।

लोक कलाओं के विषय में आप क्या राय रखते हैं ?

मैं लोक कलाओं का बड़ा पक्षधर हूँ। लोक कलाओं के प्रशिक्षण व प्रदर्शन में अंतर ही नहीं रहता। प्रशिक्षण कहाँ शुरु हुआ और प्रदर्शन कब होने लगा, यह भेद समाप्त हो जाता है। तीजन बाई को देखिये ... जहाँ खड़ी हो जाती है सरस्वती उनकी जीभ पर उतर आती हैं। सारे चरित्र उनके भाई-बहन रिश्तेदार बन जाते हैं और कमाल के अंदाज़ में डूब कर कहानी कहती चली जाती है। जिसने भी उसे बुलाया, वो चाहे कोई मिनिस्टर हो या साधारण जन कोई भेद नहीं रह जाता उनके लिये। दरअसल कलाकार जब समाधि के स्तर तक चला जाता है तब उसकी कला साक्षात्कारिक हो पाती है। वहाँ तक जा पाना सौभाग्य होता है उस कलाकार का जिसे उसकी तरह का गुरु मिला होता है, सही मार्गदर्शन मिला होता है। फिर दर्शकों के साथ संवाद भी बनाना चाहिये मैंने तीस-तीस हज़ार लोगों के सामने तीजन बाई को तीन-तीन घंटे के शो करते देखा है। तोप की तरह दनदनाती करती चली गयीं। वहाँ सब बंधन छूट जाते हैं। दर्शकों के साथ एक अद्भुत रिश्ता बन जाता है। भाषा न समझने वाला भी उतना ही आनंद उठाता है और ट्रांस में चला जाता है। यह होता है लोक कला का जादू।

कला की राह अध्यात्म तक ले जाती है ऐसा कहा जाता है ?

देखिये ! इसे बारीकी से समझना ज़रूरी है । जैसे मेरा पढ़ाने का तरीका बड़ा कष्टप्रद भी है और आसान भी। कष्टप्रद इसलिये कि जो खड़े ही नहीं होना चाहते उन्हें ऐसा ही लगेगा जबकि जो वाकई कुछ सीखना चाहते हैं वे खुद दौड़े बिना रहेगें नहीं। मैं उनको सिद्धांत सिखाऊंगा, आपस में बोलते-बोलते मैं उन्हें उच्चारण, श्वास शुद्धि पर ध्यान दिलाऊंगा विचार की ओर ले जाऊंगा और यही वह मोड़ है जहाँ सिद्धांत शाब्दिक अर्थ बताता है। दूसरी तरफ अध्यात्म की और ले जाता है। आध्यात्मिक अर्थ तक की यात्रा अपने आप उसमें आ सकती है यदि उसने स्वयं को पूरी तरह ढाल लिया है तो। पूर्णतया स्वयं को समर्पित करना पड़ता है। मिट्टी के ढेले से कुम्हार जो चाहे बना सकता है किन्तु आकार में ढ़लने की अर्हता तो मिट्टी में ही होती है। यदि मिट्टी में वह बात होगी ही नहीं तो बेचारा कुम्हार क्या कर लेगा। पत्थर जब घाव सहता है तभी मूर्ति बनती है वरन् नींव में गाड़ा जाता। यह दूसरी बात है कि महत्त्व दोनों का ही है। मेरा कहना यह है कि लीड रोल करने वाले ही सिर्फ़ किरदार को

महान नहीं बनाते उसके सहकर्मियों की भी पूरी सहभागिता होती है। ज़रूरी यह भी है कि जहाँ कलाकार पूरी क्षमता के साथ प्रस्तुति देता है, वह पूरी तरह दर्शक का हो जाता है वहीं दर्शक भी स्वयं को पूर्णतः उस प्रस्तुति के लिय समर्पित कर दें बात तभी बनती है। समाधिस्थ आनंद तभी प्राप्त होता है जब समर्पित कलाकार हो और समर्पित दर्शक भी।

अर्थात्.... ज़मीन भी पोली हो और बीज भी उर्वर, नया अंखुआ तभी फूटता है.....।

बिल्कुल यही। यहीं से श्रद्धा से साक्षात्कार होता है और यश का शिखर छुआ जा सकता है।

आपके लिये कभी कोई विद्यार्थी समस्या नहीं बना, जिससे आपने हार मान ली हो ?

अरे...कभी नहीं...कभी भी नहीं। बल्कि मैं तो पागल हूँ इस तरह की चुनौती लेने के लिये। खुद आह्वान करता हूँ। मुझे अनगढ़ों को तराशना ज्यादा अच्छा लगता है भलें वो शिक्षा-प्रशिक्षा का क्षेत्र हो या फिर प्रशासन का। मैं सभी को साथ लेकर चल सकता हूँ। अपने काम में प्रतिकूल को भी अनुकूल बना सकता हूँ।

प्रशासन के क्षेत्र में भी ऐसे ही अनुभव रहे ?

देखिये ! मैं कल्चरल फिल्ड में वैसे तो तीसरी श्रेणी का अधिकारी था, किन्तु संयोग ऐसा हुआ करता कि राष्ट्रीय स्तर के लोग आते तो आयोजन का इंचार्ज मुझे बनाया जाता। शर्त मेरी यही रहती कि हर चीज़ का अंतिम निर्णय मेरा होगा - कोई उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इसे मेरा आत्म सम्मान कहें या अहंकार....। मैं डरता किसी से नहीं हूँ क्योंकि जो काम कर रहा हूँ वो उनका है और उसे मैं बेहतर करने की कोशिश में हूँ तो डर कैसा? 'नेकी' मेरा दूसरा शस्त्र है। मेरा मानना है कि जब तक मैं वैचारिक और व्यावहारिक दृष्टि से नेकी का दामन नहीं छोड़ता तब तक मुझे किसी से डरने की ज़रूरत नहीं है। मेरे प्रशासनिक कार्य करने के दौरान ऑडिट का कभी कोई प्रसंग नहीं हुआ। न खाया न किसी को खाने दिया। दुश्मनों को भी साथ लेकर चला। इससे पहले यह नहीं होता था। मेरा मानना है कि वाजिब मांग हो तो उच्च अधिकारी पूरा सहयोग देते हैं। मैंने अठारह नेशनल फेस्टीवल लोक कलाओं के किये हैं। फिर पेरिस फेस्टीवल, मॉरीशस फेस्टीवल अर्थात अनुभवों की गठरी भरी है अपनी।

कलाकार्यों में समय मशीनी कार्यों से ज़्यादा लगता है और लगना भी चाहिये। आप एक साथ इतने रचनात्मक कार्य किस तरह साध लेते हैं या फिर एक वक़्त में एक काम ही करते हैं ?

समय का नियोजन इसलिये हो जाता है क्योंकि मैं बहुत अनुशासित व्यक्ति हूँ। वैसे मेरी ज़िन्दगी अनुशासित नहीं रही। जीवन में और केरियर में अनगिनत मोड़ भी आए। आई.ए.एस.की तरफ कभी गया नहीं, महत्त्वाकांक्षी कभी रहा नहीं। जहाँ काम कर रहा होता, वहीं दूसरे काम का ऑफर मिलता रहा। उसमें इतने काम की संभावनाएँ रहती कि एक जुनून सा सवार हो जाता, आनन्द आता। दारूबाजी कभी की नहीं, किसी के पास समय काटने कभी पहुँचा नहीं भले कितने भी बड़े केलिबर का व्यक्ति क्यों न हो। प्रशासनिक कार्यों में भी बड़े-बड़े अतिथि आते, उनकी पूरी व्यवस्था मैं ज़रूर करता किन्तु व्यक्तिगत रूप से उनका समय खाने कभी कभी नहीं पहुँचा। जो जिम्मेदारी लेता या मिलती उसका निर्वाह करने अंत तक स्वयं मौजूद रहता तो कहीं किसी गलती के हो जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। नाटक मंचन के वक़्त अंतिम पंक्ति में बैठा व्यक्ति सीट खाली पाकर आगे आ गया है ऐसी छोटी बात भी मेरी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकती थी। हमेशा समय पर कार्यक्रम प्रारम्भ करवाना (चाहे कोई आए या न आए) हुआ करता। तभी आपका विश्वास जमता है और विलंब करने वाले को प्रताड़ित करने का हक़ मिलता है। और हाँ काम तो एक समय में एक ही करता हूँ पर पूरी निष्ठा के साथ करता हूँ।

आपने प्रशासनिक सेवा में रह कर बड़े-बड़े उत्सवों का संयोजन किया, कुछ यादगार लम्हें पाठकों के साथ बांटना चाहेंगे ?

क्यों नहीं...पहली बार 'अपना उत्सव' हुआ उसका कोई इतिहास नहीं था। राजीव सेठी, पुपुल जयकर भी थीं। एक थीम दे दी गयी। सात झोन की अवधारणा सोची। 800-1000 कलाकार आने वाले थे। कितनी बसें, ट्रकें, टेन्ट, रसोड़ा सब देखना था। दिल्ली में अलग - अलग जगह आँगन बनाए। जहाँ एक साथ 100 लोग नृत्य कर सकें। मैं उन्हें वहाँ ले जाता, उनकी हर बात की जानकारी लेता। सबसे मिलता। गीत क्या है, यह रंग क्यों है, प्रापर्टी क्या है, परम्परा क्या है, कार्य शैली क्या है अर्थात ए से लेकर झेड तक पूरी जानकारी लेता। प्रोग्राम ऑफिसर के साथ विमर्श चलता। गाँव के लोक कलाकारों से अपनत्व से पूछें तो ऐसे ऐसे सत्य उजागर होते जो आपकों कहीं से नहीं मालूम हो सकते। वे बहुत उत्साही भी हो जाते हैं। जहाँ तक अनुभव की बात है तो मिजोरम मैंने देखा नहीं था एक कार्यक्रम किया आयजोल में। अनेक परेशानियाँ थी, फिर भी रास्ते बनते गए। 350 कलाकारों को सात राज्यों से बुलाया गया था और याद रखने लायक यह बात रही कि वहाँ के बड़े बड़े ओहदे वाले सेना अधिकारियों ने भी वर्दी उतार कर साधारण मेज़बान की तरह अपने यहाँ आए कलाकारों का स्वागत सत्कार किया। यहाँ तक कि भोजन पकाया और परोसा भी। इससे ज़्यादा क्या हो सकता था?

वाकई....आप भाग्यवान है सर ! कि इतने सारे प्रत्यक्ष अनुभवों को हासिल करने के अवसर निरंतर मिलते चले गए। कुछ आप के द्वारा अभिनीत या संचालित नाटकों पर कहेंगे ?

मेरे लिए नाटक में 'अश्वत्थामा' की भूमिका जितनी महत्त्वशाली है उतनी ही ''प्रहरी'' की भी है। मुझे जो भी करने को मिला मैंने उसमें अपनी पूरी जान लगा दी थी। 'प्रहरी' तो समय है उसने उस 'अंधे युग' को गढ़ते भी देखा है तो ढहते भी, वह तो कालजयी चरित्र है। मुझे हर तरह के रोल करने का सौभाग्य

मिला। 'तुगलक', 'द फादर', 'क्लार्ड', 'रायगढ़ जाग उठा', 'वेटिंग फॉर गादी'। पश्चिम से लेकर ग्रीक ट्रेजीडी तक क्या नहीं किया। 'उड़िपा सेरेक्स', 'हाउस ऑफ बर्नाडा', 'गोदान,' 'जसमा ओडन', 'शिवाजी' किया। शिवाजी यह लेजेन्डरी प्ले है मराठी थियेटर का। अपने बेटे को आगरा छोड़ने का जो सीन है - सारा दर्द उभर कर आता है। यह करना आसान तो नहीं था, शिवाजी योद्धा थे, वह सारा रंग मंच पर दिखना, उनकी आँखों की चमक, तलवार की तेजी, आवाज़ में हुंकार, अंग चालन में बिजली सी चपलता के चरम भाव को, जो पकड़ लेता हो तो फिर किरदार और कलाकार के बीच अंतर रहता ही नहीं। 'अश्वत्थामा' के बाण लगने के चरम भाव को पकड़ लेता हो क्योंकि वह प्रतिशोध की चरम सीमा है। शाब्दिक उच्चारण से एक भूमिका बनती है, संवेदना से दूसरी, आंतरिक भाव से एक और तो कोई एक भूमिका की चर्चा नहीं की जा सकती।

मराठी थियेटर बहुत प्रोग्रेसिव है। 'आनंदी गोपाल' को ही लें। भारत की पहली महिला डॉक्टर विदेश में शाकाहारी रह कर पढ़ाई करके भारत लौटी तो इतनी सामाजिक प्रताड़ना सही कि बीमार होने पर दवा दारु तक नहीं मिली। 'पागल पति' मुझ जैसा या अलका जी जैसा कि ज़िद पर अड़ा रहा कि तुम्हें पढ़ना ही है। डॉक्टर बनना ही है। धर्मभंग भी न हो और पढ़ाई भी पूरी हो। उसमें मैं पति बना था और एन.एस.डी.की सुहास जोशी ने आनंदी की भूमिका की थी। अधेड़ उम्र का पति और छोटी उम्र की बच्ची के साथ शादी, समाज का न्याय, परिवार का न्याय और पति का न्याय, अंध श्रद्धाएँ क्या नहीं था उस नाटक में, सारी यात्रा उसे हमनें रिवाल्विंग स्टेज पर किया था। दरअसल भूमिका अपने आप में बड़ी होती नहीं उसे बनाना पड़ता है। एन.एस.डी.में होरी किया तब मैं 24-25 वर्ष का था। होरी चारों तरफ की मार खाकर पूरी तरह गल गया था पर इंसानियत के ऊपर चल रहा था। मैं यह रोल किया करता तो हर बार मेरी लम्बाई 6इंच कम हो जाया करती थी।

उफ्फ, कैसी मार्मिक बात कही आपने सर दूरदर्शन व फ़िल्मों की तरफ आप नहीं मुड़े ?

थोड़ा बहुत किया कभी कभार, पर रास नहीं आया। फ़िल्म डायरेक्शन का मोह तो कभी हुआ ही नहीं, जबकि मेरे कई विद्यार्थी आज माने हुए डायरेक्टर हैं। कुछ सीरियलों के लिये एपीसोड लिखे थे। बड़ी फ़िल्मों और बड़े कलाकारों का समय अब विदा ले रहा है। अब नए लोगों व नए विषयों का जमाना है। अनजानी जगह और अनजाने विषयों पर बड़ा उम्दा काम सामने आ रहा है। यह शुभ संकेत है। नाट्यकर्म का क्षेत्र बहुत आशाजनक नहीं है। जिम्मेदार हम ही लोग हैं। विश्वविद्यालयों में अभ्यासक्रम शुरु किया भी तो उसमें कोई संगति नहीं है, निखार नहीं हैं। नौकरियाँ पाने या करने के लिये सीखने जाते हैं। टूरिज़्म या अन्य क्षेत्रों में नौकरी मिल जाएगी, इससे रंगकर्म का कोई भला नहीं हो सकता। दूरदर्शन की अवस्था और भी निराशाजनक है। प्रत्यक्ष जीवन से कौसों दूर चीजें दिखायी जाती है। इसके लिये समाज व शिक्षा दोनों जिम्मेदार है। जीवन में मूल्यों का प्रत्यारोपण किये बिना बदलाव संभव नहीं है। लोग भौतिकता की तरफ बेतहाषा दौड़ रहे हैं। 'मैं दिखूँगा कैसे', इस पर पूरा जोर है। 'मेरे अंदर क्या है' इसे देखने की फुरसत किसी के पास नहीं है। सारी सीढ़िया ढलान की तरफ जाती है। पर बदलेगा सब, आगे की पीढ़ियाँ जवाब पूछेगी। राजकरण हों या समाजकरण या शिक्षाकरण ज़िम्मेदारी सभी को समझनी पड़ेगी।

जी सर, ऐसा ही हो, पर दूर-दूर तक कोई आसार फिलहाल तो नज़र नहीं आते। आज का परिदृश्य तो यह है कि 'अभिव्यक्ति की आज़ादी' ही खतरे में है, जबकि मुगालता यह है कि हम सबसे बड़े लोकतंत्र के

अन्याय का विरोध नहीं होगा, कुछ नहीं बदलेगा। अवसर पाने की तलाश में जी हज़ूरी करना भी तो सही नहीं होता। वे जब पैसा देते हैं तो काम मनचाहा करवाना चाहेंगे मगर यह सामने वाले पक्ष पर निर्भर है कि वह कैसे उस अवसर का सदुपयोग करके अपनी बात कह सकता है जो उसको कहनी चाहिये। जागरुकता तथा अन्याय का विरोध दो तत्त्व ज़रूरी हैं और वह हर इंसान में होने चाहिये।

वासी हैं ? पिछले ही वर्षों में लगातार चार लोमहर्षक बर्बर हत्याएँ हुयी। अंधविश्वास के खिलाफ लड़ने वाले दाभोलकर और पानसरे, अन्याय की पोल खोलने वाले कलम के सिपाही कलबुर्गी और फिर गौरी लंकेश को जिस तरह शांत कर दिया गया, वैसे डरावने माहौल में कोई बदलाव आयेगा भी तो किस तरह ?

आपने जो उदाहरण दिये, सचमुच वे दुःखद हैं। बहुत चिंतनीय भी, किन्तु उसके बाद हमने किया क्या...? क्या कोई जबरदस्त विरोध कहीं से दर्ज हुआ, धरने दिये गए, धावा बोला गया, नहीं ना? ऐसा क्यों नहीं किया जाना चाहिये। यदि वही भाषा उन्हें समझ में आती है तो जवाब भी तो उसी भाषा में दिया जाना चाहिये कि नहीं ? सिर्फ़ बरसी के दिन काले झंडे हाथ में ले लेने या काली पट्टियाँ डाल कर विरोध जताने, या मोमबत्तियाँ जला देने से कुछ बदल जाएगा ? शासन तंत्र में कोई पछतावा, परिपक्वता, समझदारी या संवेदनशीलता बची ही नहीं तो, क्यों उम्मीद रखें उनसे। कलम हमारा शस्त्र है उसे हॉकी स्टिक्स कैसे बनाएँ - तो आप बुद्धि का इस्तेमाल कीजिये, वो कभी होता नहीं। कला के क्षेत्र में सब कुछ बंद हो रहा है। स्कॉलरशिप बंद हो रहे हैं, प्रावधान बंद हो रहे हैं, और हम चुप हैं, कुछ नहीं कर रहे हैं ? जबकि कला के क्षेत्र में कुछ भी नहीं है। क्षमा कीजिये अहिंसा गाँधी जी को शोभा देती थी। आज हम जैसे पतित पावन लोगों को नहीं देती। दुर्भाग्य है यह हमारा...हमें बस रोने की आदत पड़ गयी है चीज़ें किस तरह ठीक हो सकती है इस पर हमारी बुद्धि दौड़ती ही नहीं...।

सर, कुछ दिन पहले साहित्य कला परिषद के एक विज्ञापन में कला व संस्कृति मंत्रालय की अतिरिक्त जिम्मेदारी संभाल रहे दिल्ली के उपमुख्यमंत्री 'मनीष सिसोदिया' की फोटो तथा दो थियेटर फेस्टीवल की सूचना छपी है। उसमें लिखे गए नियमों में साहित्य कला परिषद के सचिव ने लिखा है कि ''सरकारी संस्था द्वारा निर्धारित विषयों पर ही नाटक करने हैं।'' अर्थात् इस फेस्टीवल में कोई आवेदन करता है तो उन नाट्यकर्मियों को राज्य सरकार द्वारा दिये गये विषयों या एजेंडों पर ही नाटक करने होंगे। सर, क्या यह कला की स्वायतत्ता के लिये खतरनाक तथा निहायत ही गलत परम्परा की शुरुआत नहीं है क्यों सरकार ने नाट्यकर्मियों को इस योग्य भी नहीं समझा कि वे खुद तय कर सकें कि उन्हें किन मुद्दों पर नाटक करना चाहिये ?

दरअसल सत्ता में बैठे लोगों का लक्ष्य होता है कि उनकी कुर्सी सुरक्षित रहे, इसके लिये वे किसी भी हद तक जाते हैं।किन्तु ज़रूरी यह है कि जब तक

आप अपनी तरफ से अपने पाठकों को क्या कहना चाहते हैं ?

मैं खुद को बड़ा सौभाग्यशाली मानता हूँ जिसे प्रशिक्षक के तौर पर अब्राहम अल्का जी जैसे गुरु का मार्गदर्शन मिला। बाद में दूसरे क्षेत्रों में भी जो अधिकारी मिले, उनके आदर्शों को मैंने नज़दीक से समझने की कोशिश की तथा उन्हें अपनाया। तीसरी बात यह है कि मैंने कभी किसी काम को छोटा या बड़ा नहीं समझा। कई बार मैं अपंगों की प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों से बात करने जाता हूँ तब भी मेरी बात में वही तीव्रता रहती है, वही उत्साह रहता है, जो मास्टर क्लास को पढ़ाता हूँ तब रहता है। मैं दोनों के साथ आइडेन्टिफाई कर लेता हूँ। किसी की भी न्यूनता दिखाना मेरा लक्ष्य कभी नहीं रहा। पोस्ट ग्रेजुएशन के लोगों की ज्ञान की भूख पूरी करके भी उन्हें थोड़ा अतृप्त रखूँगा ताकि वे फिर आए। हर एक जिज्ञासु को मैं पहले उनकी अच्छाइयाँ बताता हूँ। मैं स्वयं पहले आस्वादक होता हूँ और उससे अच्छा क्या हो सकता है इसके लिये उकसाता हूँ। मेरे पास कई स्तर के लोग पढ़ने आते हैं। मेरी कसौटी एक ही है कि हर एक को मेरी बात में रस आना चाहिये। नये फ्रेशर भयभीत न हो, वह स्वयं को सहज पाएँ यह तब होता हे, जब भले आप किसी भी ऊँचाई पर हों, आपकी वृत्ति पिछलग्गु वाली होनी चाहिये। श्रेय उनको दे, गलती खुद ले लें। बाद तभी बनती है।

आप अपने व्यक्तिगत जीवन पर कुछ कहना चाहेंगे ?

मैं भाग्यवान हूँ कि मेरी शादी देर से हुयी। विदेश से लौटने के बाद कई छात्राएँ मुझसे पढ़ती थी। कांचनजी भी उनमें से एक थीं। इनके साथ विवाह न होता तो शायद मैं और किसी से विवाह ही न करता। ये मेरे लिये सब कुछ है। वो अंदरुनी विश्वास हम दिखाते नहीं है पर प्रतिक्षण हमारे अहसासों में है। वे 36 वर्षों से अपंगों के लिये निष्ठापूर्वक कार्य कर रही हैं, और मुझसे अधिक अच्छी शिक्षक हैं। अधिक रचनात्मक हैं। उन्होंने अब तक 7500 लोगों को अपंगों के लिये पढ़ाने के लिये तैयार किया है मेरे तो 250-300 से ज़्यादा छात्र नहीं है। उन्होंने अपंगों के लिये नाटक लिखें हैं, प्रकाशित करवा कर गाँवों में पहुँचाएं हैं। उनकी ऊर्जा भी अपने काम के कारण ही है।

मुझे ऐसा साथी मिला है जिसने मुझसे कोई अपेक्षा की ही नहीं। जहाँ तक परिवार की बात है तो में उनके सुख दुःख में हमेशा साथ हूँ अभी आपसे बात भी कर रहा हूँ तो पूरी निष्ठा से कर रहा हूँ, क्योंकि अपने पाठकों के प्रति मेरी जिम्मेदारी है।

ए - 5, ओरियन सेक्टर - 1 चारकोप, कांदिवली (पश्चिम)
मुम्बई - 400067 मो. 9322496620

पुतलो की बस्ती में: एक कस्बा-कथा और उसका यथार्थ

रमेश दवे

उपन्यास- पुतलों की बस्ती में
प्रमोद त्रिवेदी
प्रकाशक- साहित्य भंडार, इलाहाबाद
मूल्य- रू 480/-

प्रमोद त्रिवेदी का कृति-व्यक्तित्व मौन की साधना में सतत सृजनरत रहता है। मध्य प्रदेश के मालवा-अंचल की यह स्वाभाविक तासीर है कि यहाँ का मूल-व्यक्ति कितना भी बड़ा लेखक, कलाकार हो, वह बड़बोलापन नहीं जताता और अपनी रचना को लेकर आत्म-मुग्ध या आत्म-अहंकार से ग्रस्त रहता है। विनयशीलता का स्वाभिमान जहाँ है और वहीं कुछ विशेष प्रतिबद्धताओं के मंच-शूर अपने वाम-दक्षिण की विचारधारागत हाँक लगाते रहते हैं, प्रमोद ऐसे व्यक्तित्व में जीते हैं जो अपने बड़े होने को सदैव छोटा बनाए रखते हैं। प्रमोद ने अपने आज तक के जीवन-समय में तीन कविता संग्रह, आठ उपन्यास, तीन नाटक, एक कहानी-संग्रह, चार आलोचना-चिन्तन तथा चार सम्पादित पुस्तकों की रचना और दो दो साहित्यिक पत्रिकाओं का सम्पादन करके अपनी सुरूचिपूर्ण और संवेदनात्मक चेतना को प्रकट किया है। इतने विपुल सहित्य की रचना के साथ उनका एक अत्यन्त मनोरम और रंगलीला से भरपूर सौन्दर्य क्षेत्र है उनका पेण्टर होना। उनके पेण्टिंग्ज देखकर कहा जा सकता है कि एक कवि, कथाकार, नाटककार, विचारक की कलम किस प्रकार कलम से केनवस की तूलिका बन जाती है। उनके सृजन की भी विशेषता ऐसी है जैसे वे कागज की प्लेट पर तूलिका से तरह-तरह के पिगमेण्ट्स में प्रकृति और मनुष्य का संयुक्त संसार रच रहे हों। यह तो हुई एक कृतिकार के उस स्वरूप की चर्चा जो मूलतः तो कवि है और जो कविता के सौन्दर्य से कहानी-उपन्यास-नाटक का संवेदन रचता है और पेंटिंग से यह प्रमाणित करता है कि उसके पास तमाम उपेक्षाओं, वर्जनाओं के बावजूद उसका वह अपनापन है जो उसका स्वाभिमान भी है और समाजधर्मी मनुष्यता भी सच कहा जाए तो प्रमोद यदि लेखक न होते तो एक बड़े पेण्टर अवश्य होते।

अब चर्चा की जाए प्रमोद के नए उपन्यास 'पुतलों की बस्ती में' के सम्बन्ध में। उपन्यास का नामकरण-ऐसा लगता है जैसे यह कोई स्वप्नशील फेण्टेसी हो, परीकथा हो या ललित रचना हो लेकिन प्रमोद की प्रमुख-प्रज्ञा तो पृथ्वी-प्रज्ञा है, पृथ्वी का जो यथार्थ इस पूरी सृष्टि में व्याप्त है, उसी यथार्थ के टुकड़े तो गाँव, कस्बे और नगर-महानगर हैं। प्रमोद मालवा अंचल की कथा को एक कस्बे की कथा बनाते हैं और वह भी इतनी काव्यात्मक मार्मिकता से कि लगता है सभ्यताओं की विपरीतताओं में जीने वाला नायक आदित्य भले ही मनुष्य हीरो हो, मगर वास्तविक हीरो तो मालवा का वह कस्बा है जिसका नाम 'बड़नगर' है।

प्रमोद त्रिवेदी के पास मालवा की आंचलिकता आत्मीयता की तरह है। यह आत्मीयता वे अपने उपन्यास में 'हंस अकेला' में भी रच चुके है। 'हंस अकेला' और 'पुतलों की बस्ती में' पढ़कर लगता है जैसे प्रमोद के साथ नरेश मेहता भी उसी आंचलिकता की आत्मीयता के साथ 'यह पथ बन्धु था' और 'उत्तरकथा' जैसे उपन्यास लेकर खड़े हैं और कह रहे हैं प्रमोद! सचमुच तुम मेरे कथा-उत्तराधिकारी हो। यह एक प्रकार का भावुक वाक्य हो सकता है लेकिन नरेश जी ने अपने दोनों उपन्यासों में मालवा क्षेत्र के शाजापुर, धार, नरसिंहगढ़, धर्मपुरी, आगर-मालवा, उज्जैन और बड़नगर की यात्राएँ करवाई हैं, प्रमोद ने उतनी लम्बी यात्रा न करते हुए पूरे मालवा की लोकांचलिकता केवल एक कस्बे बड़नगर में उतार दी है और वह भी इस तरह कि पढ़ने पर लगता है जैसे हम दो प्रकार के विरोधाभास एक साथ पढ़ रहे हैं। एक बड़नगर, उसका पुराना लोकचरित्र और दूसरा नया बड़नगर और उसका वह उत्तर आधुनिक चरित्र जो महत्वाकांक्षाओं के मोबाइल से एवं स्वप्न में रोबोट सर्जरी के दर्द की आधुनिकता से संवाद कर रहा है। दूसरा विरोधाभास है, बड़नगर, उज्जैन और अपने देश से बाहर जाकर आदित्य का आत्मद्वंद्व। जिस अमेरिका को उसने अपने अर्थतंत्र का महामंत्र माना वह उसे निराश करता है। वहाँ भौतिक अर्थ तो है लेकिन जीवन का अर्थ व्याकुल है। प्रमोद ने अत्यन्त मार्मिक-भावुकता से इस उपन्यास में जो स्मृति-मोह या नास्टेलजिया रचा है, वह नास्टेलजिया करीयर की कठिन आर्थिक दौड़ से ऊबे मनुष्य को जब डिसइल्युजन करता है या उसका मोहभंग करता है जो उसे कस्बे का यथार्थ याद आता है और अर्थतंत्र निरर्थक लगने लगता है।

प्रमोद ने कस्बे और नगर के विलोम को माँ साहब के चरित्र में अत्यन्त संजीदगी से रचा है। समृति-मोह और स्मृति-भ्रंश, आत्मीयता और औपचारिकता, कसबे की कसक और शहर की ठसक, रिश्तों की मिठास और रिश्तों स अलगाव, अपनत्व की परम्परा और अन्यत्व की स्वार्थ लिप्तता, ये सब ऐसे तत्व हैं जो प्रमोद के चिन्तन की भूमि दो प्रकार से रचते हैं। एक तो यह कि ग्लोबलाइजेशन में ग्लोबल होते कस्बे का यांत्रिक रूपान्तरण और दूसरे उसी यांत्रिक यंत्रणा के अन्दर से पुनः उस ओर लौटना जो ग्लोबल न होकर भले ही ग्रामीण या कस्बाई हो, मगर वह इतना तो मानवीय है ही कि वहाँ मनुष्य का मनुष्य बोध अभी जीवित है। बड़नगर के वर्तमान नए-पुराने में विभाजन से माँ साहब का मोहभंग और उज्जैन से जो नया मोह उन्पन्न होता है वह भी स्मृति के भावावेश में मगर जब पुनः अपनी जमीन की तरफ लौटता है तो यह एक मार्मिक चित्र रचता है।

उपन्यास में प्रमोद ने जिस आंचलिक आत्मीयता के प्रसंग रचे हैं उनमें माँ साहब की भूमिका, उनका सहज मालवीपन, अपने दोनों पुत्र आदित्य और रजनीश के प्रति लगाव आदि तो भारतीय भावुक मानसिकता के प्रसंग हैं लेकिन माँ साहब का उज्जैन के प्रति प्रथम मनोविज्ञान, गोपाल के परिवार में जाना, बड़नगर में मृत्यु की शोक-संवेदना और कस्बे में माँ साहब के प्रति पुराना लगाव, सम्मान माँ साहब में पुनः अपने बड़नगर का नास्टेलजिया उत्पन्न कर देता है। नगर और कस्बे के बीच का यह मनोविज्ञान और मानवीय भावनाओं के गहरे तनाव प्रमोद ने बड़ी कुशलता से रचे हैं।

प्रमोद ने उपन्यास को कई एपिसोड्स मे लिखा है। आदित्य द्वारा पिता पुराणी महाराज का स्मरण यह बताता है कि किस प्रकार भारतीय संस्कार का मन अपने पूर्वजों की स्मृति को संदर्भवान बनाता है। माँ साहब में यह स्मृति एक प्रकार का गौरवभाव है। बड़नगर का उजड़ा रूप, तालाब पर मकानों का नया जंगल, आज के समय की बढ़ती आबादी और महत्वाकांक्षा से उपजी सड़कों, बाजारों की भीड़, बड़नगर का अप्रत्याशित विस्तार और सम्बन्धों की भौतिक दूरी, यह ऐसा पक्ष है जिसे प्रमोद ने हमारे समय की अनेक विडम्बनाओं की तरह रचा है। अनेक प्रकार के विरोधाभासों, युवाओं के मोबाइल-कल्चर और बड़नगर में रोजगारों का धीरे-धीरे सिमिट कर युवाओं के

लिए अवसरविहीन हो जाना भी वर्तमान सभ्यता के तथाकथित विकास-मॉडल पर कटाक्ष या व्यंग्य है।

इसके बाद आता है एक और एपिसोड-आदित्य के अमेरिका प्रवास का। अच्छी नौकरी, अच्छा पैसा, अच्छे साधन, अच्छी सुविधा, सब कुछ लेकिन अपनी धरती का मोह तो आदित्य के मन के कोने कोने में गुंथा हुआ है। आदित्य और ग्लोरिया का प्रेम-प्रसंग बहुत ही शालीनता मे रचकर उसे विवाह में रूपांतरित कर तो दिया गया है लेकिन यह प्रसंग बड़नगर के मूल कथा-केन्द्र से पृथक होकर कुछ अधिक बड़ा हो गया है। अमेरिका में बेटी, लीला, और बेटे कल्कि का जन्म, उनका अमरीकी-कल्चर में पलकर परिवार के प्रति अलगाव और अपने स्वायत्त अस्तित्व की पहचान का अमरीकी-संस्कार एक ओर विडम्बना तो है ही मगर इसका क्लाइमेक्स प्रमोद ने दो प्रकार से रचा है। एक तो आदित्य-ग्लोरिया का अद्‌भुत, अदम्य प्रेम, ग्लोरिया का केंसर-ग्रस्त होने पर आदित्य की अधिक व्यथा-व्याकुल निरीहता, और अपनी संतानों की भौतिकवादी निस्संगता यह बताती है कि परिवार के, माता-पिता होने के, संतान होने के अर्थ कितने निरर्थक हो गए हैं आधुनिक सभ्यता के उस पर्यावरण में जो भारतीयता का एक अत्यन्त अमानवीय प्रतिलोम है।

उपन्यास का अगला एपिसोड है ग्लोरिया की मृत्यु के बाद, बच्चों से अलगाव के बाद, आदित्य का पुनः अपने कस्बे बड़नगर के प्रति वही नास्टेलजिया जो मॉ साहब के उज्जैन जाने के बाद पैदा हुआ था। रजनीश से चर्चा के बाद तमाम प्रकार की असुविधाओं और तनावों के बावजूद रजनीश और महाराष्ट्रियन पत्नी मंदाकिनी का भाई के प्रति आत्मीयता का पारिवारिक राग-भाव यह प्रकट करता है कि रिश्तों की गर्माहट भले ही शिथिल हुई हो मगर बुझी नहीं हैं। आदित्य का बड़नगर लौटना, वहॉ के वर्त्तमानों से जूझना और ठेलों, मोबाइल-दुकानों के बीच मनुष्य का रोबोट के पुतलों में बदल जाना, यहॉ आकर प्रमोद ने दो सभ्यताओं के बीच के अन्तरालों को अत्यन्त बौद्धिकता से रचा है। मानवीय बड़नगर का मशीनी बड़नगर होकर, भौतिक वस्तुओं के लिए चीखना-चिल्लाना, शांत, निस्पृह बड़नगर में कोलाहल पैदा करना पूरी सभ्यता के उपहास की तरह है। यहॉ लेखक का स्वदेशी और देशज मन खुला है और यह बताने की कोशिश है कि भौतिक समृद्धि या विकास की कितनी भी बड़ी डींग हॉकी जाए, मनुष्य का मशीन होना ही सभ्यता है तो वह मानवीय जीवन की सभ्यता न होकर निर्जीव-सभ्यता ही होगी। यहॉ प्रमोद ने अपने वैज्ञानिक सोच, कलाकार और सर्जक मन एवं आधुनिकता के अनेक विलोमों से उस विडम्बना को रचा है जिसमें लोग सभ्यता की दौड़ में तो दौड़ रहे हैं लेकिन संस्कारों की धरती उनके पैरों के नीचे से खिसक रही है। आदित्य आया तो था स्मृति मोह के साथ लेकिन मोहभंग में ही उसकी नियति सिमट गई।

प्रमोद ने भाषा के स्तर पर मालवी लोकभाषा का उसके रूपान्तर सहित अच्छा प्रयोग किया है जो आंचलिकता की मिठास उत्पन्न करता है। ऐसे प्रयोग पश्चिमी साहित्य में भी हुए है जहॉ अंग्रेजी कथा और काव्य-साहित्य में लेटिन और ग्रीक भाषाओं एवं अनेक कहावतों का शैलीगत प्रयोग है। लोकभाषा की आंचलिकता में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास-'मैलाआंचल' और 'परती परीकथा' के साथ अनेक कहानियॉ हैं जहॉ पूर्ण रूप से हिन्दी को आंचलिक-भाषा में रूपांतरित कर दिया गया है। ऐसा प्रयोग कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यास 'जिन्दगीनामा' में भी पंजाबी-हिन्दी के तेजस्वी सम्मिलन या फ्यूजन से किया हैं। अनेक हिन्दी लेखकों ने अपने कथा-साहित्य में लोकभाषाओं का प्रयोग किया है। नरेश मेहता ने अपने उपन्यासों में मालवी-परिवेश तो अपनत्व के साथ रचा लेकिन कुछ प्रचलित शब्दों के अलावा मालवी का अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। प्रमोद के इस उपन्यास में यह हस्तक्षेप अधिक है जो कथा-प्रवाह में कुछ हद तक बाधक बनता है। कविता और मालवी-लोकभाषा उपन्यास में भले ही शैलीगत अच्छे प्रयोग की तरह हैं लेकिन उपन्यास जिस तरल-प्रवाह के साथ कथा में ध्वनित होता है वह ध्वनि थोड़ी शिथिल अवश्य होती है मगर यह तो लेखक की सर्जनात्मक कल्पना का अधिकार भी है। कविताओं के अतिरिक्त प्रमोद ने नाटक और संवादों का भी प्रयोग किया है जो न केवल किसी एक भाग को बल्कि पूरे उपन्यास के नाट्य-रूपान्तर की संभावना प्रकट करता है।

उपन्यास का अंत पुतलों की बस्ती रच कर किया तो गया है लेकिन प्रमोद इसके जरिए बताना यही चाह रहे हैं कि सभ्यताएँ जब एकांगी हो जाती हैं तो कितनी निरंकुश अमानवीय हो जाती हैं और पदार्थ सत्ता के समक्ष मानवीय अस्मिता की सत्ता का विसर्जन हो जाता है। एक कस्बा या बड़े से गॉव की यह कलात्मक मानवीय गाथा ग्लोबलाइजेशन के इस समय में हमारे सांस्कृतिक विघटन की भी गाथा है जो एशिया-अफ्रीका, लेटिन अमेरिका तक फैली है और जो तथाकथित विकसित देश हैं वे भी तमाम सम्पदा-समृद्धि के बावजूद अपनी अराजक-भौतिकता से व्यथित, व्याकुल होकर किस परिशांत पर्यावरण की ऐसी खोज में है जो मनुष्य को पुतलों में, शोर में, सम्बन्धों के अलगाव में न बदल सके! उपन्यास पढ़ने को उकसाता है और लगता है जैसे हम किसी ऐसे कस्बे के ही पूर्व निवासी है जो वर्तमान आधुनिकता से ऊबे हुए हैं ठीक आदित्य की ही तरह।

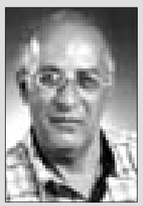

एस. एच. 8/19 सहयाद्रि परिसर,
भदभदा रोड़, भोपाल-462003 मो.नं. 9406523071

पाठको / सदस्यों से अनुरोध

* पाठकों से अनुरोध है कि वे समावर्तन की वार्षिक सदस्यता ग्रहण करें तथा सदस्यता शुल्क रुपये 600/- चेक से अथवा मनिआर्डर द्वारा निम्नांकित पते पर भेजना सुनिश्चत करें।
* समावर्तन में प्रकाशनार्थ भेजी गयी रचनाएँ वापस नहीं की जाती है। अनाहूत समीक्षाएँ भी प्रकाशित नहीं की जाती हैं।
* समावर्तन की नमूना प्रति अथवा मानार्थ प्रति सशुल्क (डाक व्यय सहित) ही भेजी जाती है।
* जिन सदस्यों को कार्यालय द्वारा भेजे गये समावर्तन के अंक प्राप्त नहीं हो रहे हैं वे कृपया निकटस्थ पोस्ट ऑफिस को सूचित कर प्रतिलिपि हमें भी भेजने की कृपा करें।
* जिन सदस्यों को समावर्तन के अंक कोरियर / स्पीड पोस्ट / रजिस्टर्ड डाक से चाहिए उन्हें आवश्यक व्यय स्वयं वहन करना होगा।
* रचनाकारों से भी अनुरोध है कि वे भेजी गयी रचनाओं के प्रकाशन आदि के विषय में बार-बार फोन या ई-मेल आदि नहीं करें। प्रकाशन होने लेखकीय प्रति भेजी जाएगी।
* कृपया चेक पर केवल 'समावर्तन' लिखे तथा पता फोन नम्बर आदि भी पृथक से पत्र लिखकर भेजे।
* मनिआर्डर डॉ.प्रभातकुमार भट्टाचार्य के नाम से ही भेजें।

शुल्क/चेक-मनिआर्डर भेजने एवं पत्र-व्यवहार का पता
समावर्तन
माधवी, 129, दशहरा मैदान,
उज्जैन - 456010
फोन नं. 0734-2524557 (प्रातः 10 से 2 बजे तक)

समकालीन स्त्री त्रासदी का महाभारतीय संस्करण इन्द्रप्रस्थ

भूपेन्द्र हरदेनिया

इन्द्रप्रस्थ (कविता संग्रह)
उपेन्द्र कुमार
प्रकाशक-अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली
पेपरबेक संस्करण
मूल्य-100

आचार्य भरत का कथन है-

सा कविता सा बनिता यस्याः श्रवनेन स्पर्शनेन च।
कवि हृदयं पति हृदयं सरलं-तरलं सत्वरं भवति।।

अर्थात् एक सुन्दर और श्रेष्ठ कविता वही है जो अपने श्रोता, पाठक, सहृदय का उसी प्रकार साधारणीकरण कर दे जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री अपने पति के हृदय को आह्लादित कर उसका सरलीकरण कर देती है, उसे आनंन्दित कर देती है। ऐसी आनंद की अनुभूति प्रदान करने वाला एक काव्य संग्रह 'इन्द्रप्रस्थ' अभी हाल में चर्चा में आया है, जिसके रचनाकार हैं, श्री कवि उपेन्द्र कुमार।

कविता संग्रह 'इन्द्रप्रस्थ' ने साहित्य संसार में जो दस्तक दी है। उससे पुरावृत्तीय साहित्य की परम्परा रूपी माला में मानो एक और माणिक्य जुड़ गया है। इस संग्रह की प्रत्येक कविता स्वयं में एक लघु कथा का रूप ग्रहण करते हुए यह बड़ा असरकारक प्रभाव छोड़ती है। इस संग्रह को पढ़ने के बाद लगता है कि कवि 'इन्द्रप्रस्थ' की पुरावृत्तीय भूमिका से इस तरह प्रभावित हो गया है, कि मानो कुम्भोच्छलनवत उसके भाव इस संग्रह की कविताओं में कथा की तरह प्रस्फुटित हुए बिना नहीं रहे हैं। कवि ने 'इन्द्रप्रस्थ' और 'महाभारतीय' मिथकीय पृष्ठभूमि के माध्यम से जीवन के यथार्थ व अपने आसपास देखे-महसूस किए गए यथार्थ का चित्रण खूबसूरत अंदाज में किया है।

उपेन्द्र कुमार के इस संग्रह की पहली कविता 'शायद यही इन्द्रप्रस्थ है' मानो इस संग्रह की भूमिका प्रस्तुत करती है। वह द्रोपदी, उर्वशी और पुरूरवा प्रसंग के माध्यम से संग्रह की अपनी मिथकीय भूमिका और विषय वस्तु की ओर इंगित करती हुई नजर आती है। इस संग्रह की एक-एक कविता में इतिहास छुपा नजर आता है। समकालीन स्त्री त्रासदी को महाभारतीय पुरावृत्तों के माध्यम से स्पष्ट करने और पुरातन समय में शायद छूटे अधूरे प्रश्नों के जबाव खोजने का महनीय प्रयास इस काव्य संग्रह में किया गया है।

'इन्द्रप्रस्थ' कवि की दीर्घ साधना, लंबे अनुभव और चिंतन से उपजी कविताओं का संकलन है। यहॉ चिंतन की ठोस जमीन तो है लेकिन वह विषय में इतना घुल-मिल गई है कि अंत में यहॉ एक सशक्त कविता की शक्ल ही हमारे सामने आती है। उपेन्द्र ने अपनी कविताओं में निरंतर एक नई व्यक्तिगत सजगता के कारण अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को निर्वैयक्तिक कर विभिन्न संदर्भों को पाठकों के समक्ष उठाया हैं। *उनके लिए प्रेम तो धरती का उपहार है/परन्तु मनुष्य है उस देवलोक से चमत्कृत/जो बादलों में ऐसे छुपा है/जहॉ प्रेमियों की ऑखें पहुँच नहीं पातीं/शायद यही इन्द्रप्रस्थ है/प्रार्थना के सुर में प्रशंसा के गीत गाता/खुद के दरबार में खुद को ही बार-बार हाजरी बजाता*

उपेन्द्र के इस संग्रह में चिंतन बहुत गहराई में गोता लगाकर आया है। वर्तमान समाज और समय में स्त्री की कठिनतम स्थिति को वे भली-भॉति जानते हैं और उसे द्रोपदी, कुन्ती आदि विभिन्न नारी पात्रों के माध्यम से इशारों ही इशारों में कहना भी चाहते हैं। स्त्री के प्रति हो रहे अन्याय को लेकर इन कविताओं में भाषा की ऐसी जादूगरी है जो पाठक को मोहक तो लगती है, लेकिन उसे कठोर जमीन पर आ पटकती है। इस संग्रह में जीवन राग और प्रेम कविताएँ भी हैं लेकिन इन प्रेम कविताओं में उस तरह के दैहिक आग्रह नहीं है, जहां स्त्री स्वतंत्रता की अंतिम शरणस्थली घोषित की गई है। यही कारण है कि *उसके जीवन में/पुरूष की कहानी है/अन्याय की कहानी है/पॉच पतियों के सुपूर्द किया उसे युग ने/केवल इतना ही नहीं/उसने तो प्रेम किया केवल अर्जुन से/और लुट गयी उसी के हाथ/अन्य विवाहों से कुचल डाला द्रोपदी का मन/पुरूषों ने उसे लज्जित किया भरे समाज में/पुरूष प्रधान समाज/युगों-युगों से अपरिवर्तित चला आ रहा है आज तक/कुन्ती, द्रोपदी, अर्जुन, कर्ण रोते ही रहे।* इस कविता संग्रह की कविता 'आवश्यक है इंद्रप्रस्थ' इस संग्रह की एक लम्बी किंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण कविता है, जिसमें बताया गया है कि किस तरह से समय के संयोग से चीजें परिवर्वर्तित होती हैं। कवि के लिए इन्द्रप्रस्थ अमरत्व और अनन्त जीवन के अन्तर को समझने का माध्यम है। उसमें छुपे जन्म मृत्यु के राज और लोक परलोक के रहस्यात्मक परदे को कवि उघाड़ना चाहता है। कवि जानता है कि इन्द्रप्रस्थ के इतिहास के गर्भ में बहुत कुछ छिपा है जो प्राचीन तो है लेकिन सनातन और प्रासंगिक भी है, और कुछ ऐसा भी है जो शायद सामान्य व्यक्ति के चिंतन से परे है, जिसे रचनाकार ने महाभारतकार का पूर्वाग्रह कहा है-पांडव तो थे निश्चय ही थोड़ा बेहतर कौरवों से/ऐसा बताते हैं *महर्षि वेदव्यास/माननी ही पड़ेगी उनकी बात/बावजूद इसके कि/विजयी पक्ष के शासन में ही/शायद रचित हुआ होगा/महाभारत/वरना कौन पिता रखेगा अपने नौनिहालों का नाम/दुर्योधन और दुशासन/फिर क्या महाभारतकार ने बदल दिये नाम/सुयोधन और सुशासन के/इतना पूर्वाग्रह!*

अपने देश में होते आ रहे व्यक्ति के चारित्रिक पतन और स्त्री शोषण की बेइंतहा चिंता ही उपेन्द्र कुमार को हमारे समय का एक जरूरी कवि बनाती है, और उनकी कविता को एक महत्त्वपूर्ण कविता। *कैसा विचित्र संयोग/पुरूरवा, नहुष, ययाति/जैसे महाप्रतापी परन्तु कामान्ध/नृपों की कहानी/बार-बार दुहराता रहा इन्द्रप्रस्थ/जहॉ किया गया स्त्री मर्यादा का बार-बार अपहरण/उसकी इच्छाओं उसके अधिकारों उसकी स्वायत्तता का/किया गया बार-बार दमन/कामना-वासना की परिपृप्ति के खेल में जितना किया सुधा-पान उतनी ही बढ़ी प्यास/ अतृप्ति-ही-अतृप्ति/ और...और..... और/* यह अतृप्ति का दौर। वही समाज, वही परिवेश, वही समस्याएँ, वही विषय लेकिन एक नये रूप में अलग-अलग किस्म की कविताओं के माध्यम से प्रस्तुत करना उपेन्द्र की मौलिक काव्य प्रतिभा की विशेषता है, जो इस काव्य संग्रह में स्पष्ट होती है। पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रस्त कामान्ध नृपों जैसे पुरूरवा, नहुष और ययाति की कहानी इन्द्रप्रस्थ में बार-बार दुहरायी गई है, जो कि आज के अधुनातन और भौतिकवादी परिवेश के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक तो है ही साथ एक चिंतनीय विषय भी है।

बेशक उपेन्द्र कुमार की कविताएँ वैयक्तिक अनुभव संसार की उपज हैं, उनमें कवि के हृदय में विद्यमान नारी यातना को पहचाना जा सकता है, उस दर्द को महसूस किया जा सकता है, जो भारतीय समाज की स्त्री चिरन्तरकाल से झेलती चली आ रही है। उपेन्द्र कुमार ने अपनी कविताओं में जिया ही नहीं, बल्कि उसे भोगा भी है, और उसे इस कदर भोग्यमान बना दिया है कि उसके साथ-साथ पाठक भी इन्द्रप्रस्थीय मनोभूमि में इस कदर गोता लगा आता है

मानो वह उसका ही एक पात्र है। इन दोनों क्रियाओं 'जीना और भोगना', ऐसी काई में पगडंडी है, जिस पर फिसलने का डर हमेशा बना रहता है। कवि ने स्वयं को फिसलने नहीं दिया है, जो भी लिखा है मजबूती के साथ और साफ-साफ लिखा है।

इस संग्रह की एक और कविता 'चुंबन ही चुंबन' एक फेंटेसी परक रचना है, जिसमें कवि द्रोपदी के स्वप्न के माध्यम से दमित कामवासना, उसके स्वप्न में तीव्र कामानंद का रूप ग्रहण करती हुई अर्जुन के साथ आलिंगन के जो चित्र इस कविता में खींचे गये हैं, वे पाठक को भी उस दिवास्वप्न में लपेट लेते हैं, और वह तब तक उससे लिपटा रहता है, जब तक कि द्रोपदी का स्वप्न भंग नहीं हो जाता और *तभी कानों में दासी की आवाज गूँजी/पहले धीरे-धीरे, फिर तेज-तेज/लगा पैरों को पकड़ कोई हिला रहा/द्रौपदी की पलकें खुलीं सामने दासी का थोड़ा घबराया-सा मुख दिखा/जागिये, जागिये, देवी/ दिन में सोने से विचित्र स्वप्न आते हैं.....द्रोपदी क्या बोलती/स्वप्न याद कर वह स्वयं ही स्वयं से शर्माती रही।* 'इन्द्रप्रस्थ' कविता संग्रह में विरोधाभासी शैली का विशेष तौर पर इस्तेमाल किया गया है, आम कवियों की कविताओं की तरह कंटकाकीर्ण व्यंग्य रूप में नहीं अपितु उनकी कविताएँ किसी कोमल कुमुदिनी के स्पर्श से उत्पन्न कोमल अहसास सहृदय में उत्पन्न कर देती है, एक तड़पन, एक पाठ, एक गंध वह भी होले-होले। उनकी कविताओं में यह क्वालिटी खूब देखने को मिलती है कि वे पाठक को वगैर झिंझोडे ही बहुत कुछ कह जाती हैं, और उन्हें बहुत-कुछ सोचने पर भी मजबूर करती है।

इस संग्रह की 'जब तक जीवन है' कविता एक विशेष किस्म की दर्शन प्रधान कविता है, जो अपने शुरूआती दार्शनिक अभिमत को व्यावहारिक उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुत करती है। दृष्टांत अलंकार की छाया से आपूरित इस कविता की शुरूआत में कहा गया है कि *जब तक जीवन है/लोभ, लाभ, मत्सर ने किसको छोड़ा/माया से कौन बचा है/मोह न किसका अभिमान नहीं तोड़ा।* यहाँ तक कि धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर भी इससे बच न सके चाहे वह द्रोपदी से आलिंगन का प्रश्न हो, या पाँच भाइयों में द्रोपदी को बाँटने की व्यथा। *इस प्रक्रिया से गुजरते बार-बार/जैसे धर्मराज का प्रखर तेज मद्धिम होता गया/बार-बार खिंचने वाले रबड़ की कम होती जाती संकुचन शक्ति-सी/बचा नहीं उनमें कोई प्रतिरोध/शकुनि के उकसाने पर कॉपे नहीं उनके हाथ/द्रोपदी को दाँव पर लगाते/कृष्ण के सिखाते ही बोल पड़े/अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो।*

कविता 'माँ जानती थी' में भी अर्जुन का अपनी माँ कुन्ती और भाइयों के प्रति क्षोभ से एक विशेष जीवन का यथार्थ पक्ष उभर कर हमारे सामने आता है। युधिष्ठिर का द्रोपदी के लिए 'वस्तु' शब्द का उद्बोधन और माँ कुन्ती के द्वारा वस्तु (द्रोपदी) को सभी भाइयों में बराबर बाँट लेने के आदेश और धर्म पालन करने की बाध्यता से अर्जुन के मन में संसार के प्रति उत्पन्न उसकी सच्चाई से उसके भ्रम का टूटना एवं एक विशेष प्रकार के विराग की सुन्दर सृष्टि तो इस कविता में की ही गई है, साथ ही उन बिन्दुओं का कवि ने अपने नजरिये से पुनः आकलन करने का प्रयास किया है, जो भविष्य के गर्त में समा चुके थे, और जिनका समाधान अभी तक न हो सका है, उन्हें सामने लाये बगैर कवि मन सुकून नहीं पाता है। यह सत्य है कि इस संसार में विधाता से बड़ी कोई सृष्टि नहीं है, वह सर्व समर्थ है पर क्या किसी स्त्री का इस तरह बँटवारा संभव है, या यह सब था सुनियोजित क्यों कि *माँ जानती थी हम कहाँ गये थे/और किस उद्देश्य से गये थे/तिल भर भी शंका नहीं थी मन में उनके अपने पार्थ के सामर्थ्य पर/खूब जानती थी वे/अर्जुन लायेगा उनके लिये राजकुमारी बहू/फिर क्यों कहा उन्होंने/मिलकर सम भाग में बाँट लो सारे भाई/आपस में बराबर, सदा की तरह।*

यह तो माना ही जा सकता है कि उपेन्द्र कुमार के इस संग्रह की कविता द्रोपदी के रूप में आम स्त्री के आसपास घूमती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस संग्रह का केन्द्र बिन्दु द्रोपदी और द्रोपदी के केन्द्र में हर वो स्त्री है जो इन्द्रप्रस्थीय यातना शिविर से गुजर चुकी है या गुजर रही है। कवि उपेन्द्र स्त्री को इस दुनिया से बाहर निकालना चाहते हैं।

इस संग्रह के अवलोकन के बाद स्पष्ट होता है कि इनका लेखकीय केनवास काफी बड़ा है, जीवन की हरेक आहट नए-नए दृश्य तलाश करती है, जिसमें भोर की पहली किरण के साथ हसीन उजालों की सुगबुगाहट मिलती है। विरह और वियोग का एक छटपटाता हुआ पन्ना भी खुलता है और उस पन्ने पर बड़े ही सलीके से मोहब्बत का नाम लिखा जाता है। कुल मिलाकर भावस्थितियों की विविधता इस संग्रह की कविताओं में विपुल मात्रा में देखने को मिलती हैं। इसमें कहीं बेबसी है तो कहीं कर्मोत्साह है। कहीं दैन्य है तो कहीं आक्रोश है। कहीं चीख है तो कहीं मूक संगीत है। कुल मिलाकर कवि की हृदय-तन्त्री से निकले हुए हर भाव का समायोजन संग्रह की कविताओं में बड़ी कुशलता और सटीकता से हुआ है। इसीलिए यह संग्रह प्रत्येक स्त्री का इंद्रप्रस्थ बन चुका है। अतः कवि प्रतिरोध के स्वर में कहता है धिक्कार है ऐसे स्त्री-विरोधी समाज को*/धिक्कार है ऐसे पुरूषों को/धिक्कार है दोगलेपन से भरे ऐसे शास्त्रों को/धिक्कार है ऐसे न्याय का/जो हैं एकतरफा....अनन्त काल से अनतकाल तक/रहेगी स्त्री की यही व्यथा/पूछती है स्त्री पुरूषों से/क्या यही महाभारत है?/मेरी लज्जा, मेरे सम्मान के विरुद्ध/रचा गया युद्ध महाभारत है?.....सदा-सदा से शापित स्त्रियों की कथा/माँ कुन्ती की कथा, माँ गान्धारी की व्यथा/कितनी अकेली हूँ मैं!/अकेली ही होती है सदा/अबला से सबला बनती स्त्री।.....चलता रहा मेरा इन्द्रप्रस्थ भी साथ-साथ/होता रहा नष्ट बार-बार/होता रहा पैदा बार-बार/प्रत्येक स्त्री के साथ उसका इन्द्रप्रस्थ।*

प्रायः समझा जाता है कि कवि कल्पनाप्रवण होता है और भविष्य के सुनहरे आदर्शवादी ताने-बाने बुनने में उसकी अधिक दिलचस्पी रहती है। ऐसा इस संग्रह की कविताओं के परिप्रेक्ष्य में भी आंशिक सत्य हो सकता है उन्होंने तो भविष्य को अपना चेहरा दिखाने के लिए भूतकाल को ही दर्पण बना दिया है। नारी जीवन और विभिन्न स्त्री पुरूष जनित मनोवृत्तियों का बेबाकी से जिक्र करना और स्त्री पीड़ा की सारी परतें खोल देना इस संग्रह की प्रमुख विशेषता है। उपेन्द्र जी का यह संग्रह वीरान जिंदगी के कब्रिस्तानों पर एक ओर जहाँ जीवन और प्यार के गीत लिखता है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान में नारी को विसंगतियों से लड़ने की ताकत भी देता है। संग्रह की कविताओं के रंग इन्द्रधनुषी हैं, लेकिन सारी कविताओं का मूल स्वर नारी 'जीवन और जगत' का यथार्थ है। अंत में पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि 'इन्द्रप्रस्थ' की कविताएँ समकालीन स्त्री त्रासदी का महाभारतीय संस्करण है। अतः यह अनूठा काव्य-संकलन 'इन्द्रप्रस्थ', काव्य-प्रेमियों के लिए सचमुच एक उपहार की तरह है।

संग्रह की सभी कविताएँ पठनीय और शिल्प के हिसाब से अत्यंत सटीक हैं। तत्सम शब्दावली, उर्दू और फारसी अल्फाज़ों को बखूबी प्रयोग के साथ ही कविताओं में मुक्त छंद का लावण्य देखते ही बनता है। *'वो फिर मुझे चाहे या न चाहे/किसी और को चाहेगी तो मुश्किल होगी'* जैसी काव्य पंक्तियाँ किसी फिल्म के हसीन गानों की धुनों को इस तरह सामने लाती हैं, कि दिल एक ठहराव के साथ आनंदावस्था को प्राप्त किये बगैर नहीं रहता। स

चरोरे पाड़ा, बड़ा बाजार, तहसील रोड़, सबलगढ़
जिला मुरैना, मध्यप्रदेश पिन-476229 मो.-09893523538

''वैकल्य:जन-चेतना की दिशा में महत्त्वपूर्ण कृति''

वीनु जमुआर

वैकल्य उपन्यास के मूल रचनाकार डॉ.देशपांडे स्वयं कहते हैं -

''यह दो महापुरुषों के बीच मौन संघर्ष की गाथा मात्र नहीं बल्कि भोली-भाली श्रद्धा, पूर्वाग्रह, क्षेत्र-विशेषता, पक्षपात, ग़लतफहमी इत्यादि कई प्रवृत्तियों का खेल भी इसमें शामिल है'' मानव जीवन में छिपे दैवत्व की भावना को तलाशने की मनीषा लिए, आत्मीयता, प्रेम और समर्पण भाव के संग एक सवंदेनशील व्याकुल पत्रकार की दृष्टि से अवलोकन कर लिखी गई रचना।

उपन्यास के पृष्ठ दर्पण हैं, जिसमें साफ़-साफ़ परिलक्षित होता है - पुस्तक की समस्या सिर्फ़ एक रोग नहीं, समस्या का निदान, उसके शास्त्रीय दृष्टिकोण एवं सामाजिक दृष्टिकोण, दोनों के सामंजस्य से जन को, समाज को जागृत करने का उद्देश्य। इस उद्देश्य-प्रेरित विषय के औपन्यासिक रूपांतरण की प्रक्रिया में लेखक ने उसके कालखंड की राजनीति, सामाजिक, सांस्कृतिक, कला एवं बुद्धिजीवी वर्ग तथा सबसे महत्त्वपूर्ण-चिकित्सा विज्ञान के विषय-परख शोध, उपलब्ध औषधीय चिकित्सा की सुविधाएँ इत्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की बृहद व्याख्या कर, सुंदर शिल्प में बाँध, एक उत्कृष्ट कृति के रूप में प्रस्तुत किया है। बोल-चाल की भाषा में 'वैकल्य' का साधारणतया शाब्दिक अर्थ - व्याकुलता, विचलित होना, विकलता या फिर कहें अकुलाता मन! उपन्यास के डॉ. वामन देवदत्त रावेरकर अपने इसी अकुलाए मन से प्रेरित हो, आत्मिक स्वेच्छाओं के आनंद का स्रोत ढूँढ़ते हैं, कुष्ठ रोग उन्मूलन की दिशा में अपना योगदान देकर। दृढ़निश्चयी, अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त, लंदन के स्टेनफोर्ड अस्पताल में कार्यरत, अपने लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध डॉ.का स्टेनफोर्ड अस्पताल में इलाज हेतु आए भारतीय देश भक्त श्री रैंग्लर बोरगाँवकर की पुत्री डॉ. विमला से पहली मुलाकात विवाह संबंधी प्रसंग... तर्क-वितर्क के मध्य कुछ अति कोमल क्षणों की संरचना पुस्तक की सरसता को सींचती है।

आइये देखें -

''फूल को जैसे तितली का स्पर्श हो गया हो...'' एक डॉक्टर के अर्थपूर्ण वनस्पति विज्ञान-चिंतन के प्रेम की बंसी!

या फिर - नारी की श्रद्धा एवं निष्ठा के प्रति समर्पित पुरुष के ये उद्गार - *''तुम मुझसे एकनिष्ठ हो, इससे पहले मैं ही तुम में समाहित हो गया''* चंद शब्दों में प्रेम-समर्पण का कैसा अनहद-नाद! सच कहा गया है - 'प्रकृति एक युग्म राग'

चिंतन के अंतर्गत प्रभात कुमार मिश्र के शब्द -

''जीवन का लक्ष्य उसे ही स्वीकार किया जा सकता है जो मनुष्य मात्र के लिए हितकारी हो और जिससे हमारा समाज अधिक परिष्कृत और मानवीय बने'' दांपत्य सूत्र में बंध वर्धा स्थित रावेरकर दंपति के प्रयास, इनके जीवन लक्ष्य की परिधि लघुता की सीमा लांघ प्रभुता की आरे क़दम बढ़ाने लगती है। इसी दौरान अपनी चिकित्सा हेतु भारतीय प्रशासनिक सेवा में उच्चाधिकारी रहे श्री वासुदेव गजानन मार्जनी वर्धा आए, समाज प्रदत्त व्यवहार से विचलित, दोनों पति-पत्नी रोग के रोक-थाम की दिशा में अपना जीवन समर्पित करने का निर्णय लेते हैं। पत्नी चित्रा मार्जनी से सधे संवाद, तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण आदि लेखक की सशक्त लेखनी के हस्ताक्षर हैं। व्यक्ति दो, लक्ष्य एक - कुष्ठ रोग उन्मूलन! प्राप्ति के मार्ग पृथक।

एक ओर डॉ.रावेरकर के विचार चिकित्सा विज्ञान के वैज्ञानिक दृष्टिकोण

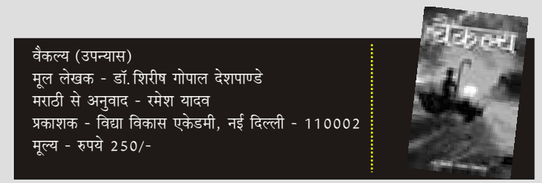

वैकल्य (उपन्यास)
मूल लेखक - डॉ. शिरीष गोपाल देशपाण्डे
मराठी से अनुवाद - रमेश यादव
प्रकाशक - विद्या विकास एकेडमी, नई दिल्ली - 110002
मूल्य - रुपये 250/-

के पृष्ठपोषक हैं तो दूसरी ओर अप्पा मार्जनी का मानस सदियों पुरानी सामाजिक, मानसिक मान्यताओं के प्रति आस्था को दर्शाता है।

दो दृष्टिकोणों के टकराव का रूपांकन करते हुए रचनाकार डॉ. देशपांडे मानव-मन के प्रवीण अध्येता के रूप में नज़र आते हैं।

अभिज्ञ डॉ.रावेरकर का कथन एवं दृष्टिकोण :-

सभी रोगी सांसर्गिक नहीं होते। जन-जागृति हेतु रोग की तुलना सर्दी जैसी साधारण बीमारी से कर, रोगियों को समाज से अलग नहीं, घर परिवार के संग रखकर चिकित्सा के महत्त्व पर ज़ोर। तीन सूत्री कार्यक्रम - सर्वेक्षण, जन प्रशिक्षण और उपाय योजना द्वारा घृणा तथा डर को समूल नष्ट करना, नागरिकों से वार्षिक डॉक्टरी जाँच की राय, अस्पतालों की बेहतर व्यवस्था, डॉक्टरी शिक्षा में कुष्ठ रोग को अनिवार्य विषय बनाना, औषधि के कई प्रकार का निर्माण (क्योंकि किटाणु एक ही प्रकार की औषधि सेवन से अल्पावधि में ही अभ्यस्त होते हैं) इत्यादि बातें समाहित हैं। प्रशासनिक उच्चाधिकारी वासुदेव गजानन मार्जनी उर्फ़ अप्पा मार्जनी का मानस :- एक दवाखाना, रोगियों के निवास हेतु घर, पोस्ट ऑफिस, बैंक, एंबुलेंस, विकलांगों के लिए कार्यशाला, वृद्धाश्रम, पालन घर, अंध स्कूल, जीवन की संध्या-छाया में सहारे के लिए आपस में विवाह की मान्यता... जीवनोपयोगी सभी सुविधाओं की उपस्थिति से परिपूर्ण एक आश्रम की व्यवस्था कर कुष्ठ रोगियों को अलग रखने की परिकल्पना! सूत्रधार की भूमिका का बेहद सुंदर निर्वहन करते हुए प्रबुद्ध रचनाकार इन्हीं दो दृष्टिकोणों के इर्द-गिर्द, विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से, यथा - साहित्य सम्मेलन की बातें, ग्यानोबा का पानी की बाल्टी, गायक मंसूर कुमार का शो, संन्यासी-तिलोत्तमा प्रसंग, आश्रम की स्थापना, उसकी सफलता के साथ-साथ अप्पा मार्जनी की देश-विदेश में बढ़ती ख्याति, उनके राजनीतिक, सामाजिक संदर्भों की चर्चा, गौरव समारोह का आँखों देखा हाल इत्यादि का क्रमबद्ध विवरण तथा - डॉ.रावेरकर की तत्कालीन प्रधानमंत्री से भेंट, प्रसंग में व्याप्त डॉ. के सुदृढ़व्यक्तित्व की छवि, रोगियों के प्रति सदाशयता, पत्नी विमल ताई के संग की गृहस्थी के शब्द-चित्र, धीरे-धीरे उनका स्वयं में सिमटते जाना, कर्म क्षेत्र वर्धा से विदा लेना, पति-पत्नी की एयरपोर्ट पर लेखक से मुलाक़ात...तथा अंत में स्टेडियम में डॉ.एवं विमल ताई से हुए रचनाकार के संवदेनशील संवाद... डॉ.के ऋषि रूप को, 'स्वयं' के चरम आत्मिक आनंदानुभूति की प्राप्ति के मार्ग को, पुस्तक के पृष्ठों पर प्रतिपादित करता है। मानव में व्याप्त अध्यात्म की पुष्टि करते मनीषी रचनाकार के ये अद्भुत जीवन-दर्शन के शब्द-चित्र हम सबों के प्रेरणा स्रोत बन सकते हैं। प्रभात कुमार मिश्र जी के शब्द इसकी पुष्टि करते हैं - ''वैकल्य स्थूल स्वार्थों पर मानवीय सद्गुणों की जीत अंकित करता है।''

प्रसिद्ध लेखक तथा हाल ही में महाराष्ट्र साहित्य अकादमी से पुरस्कृत लेखक-पत्रकार रमेश यादव द्वारा इस कृति वैकल्य का अनुवाद न केवल पठनीय बल्कि प्रेरक है तथा असंख्य प्रभावितों को लाभान्वित करने वाला है। वैसे भी किसी कृति का उद्देश्य सार्थक होता है तो इसे कृतिकार और अनुवादक की सफलता ही कही जा सकती है। स

- veenu.j0902@gmail.com

बरोह : त्रैमासिक साहित्यिक की वापसी

श्रीराम दवे

इन दिनों साहित्यिक पत्रिकाओं की बाढ़ सी आयी हुई है, जबकि वर्षों पहले तक देश भर में बहुत कम साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं। तब पाठकों का संकट नहीं था, लेकिन अब है। बावजूद इसके सभी पत्र-पत्रिकाएँ अपने-अपने पाठक जुटाने की अनवरत कोशिश में लगे हुए हैं जो निश्चित ही सुखद है।

यद्यपि अधिकांश साहित्यिक पत्रिकाएँ 'टीम वर्क' होती है तथापि देखने में यही आया है कि एक-दो लोगों की व्यक्तिगत निष्ठा से ही प्रकाशित होती है। प्रायः इनमें 'घर फूंक तमाशा देख' जैसी स्थितियाँ निर्मित होती रहती हैं, तो कभी कुछ विसंगतियों / महत्वाकांक्षाओं आदि के चलते पत्रिकाओं का प्रकाशन ठप्प भी हो जाया करता है।

ऐसी ही एक साहित्यिक त्रैमासिक 'बरोह' अमृतसर पंजाब के वरिष्ठ कवि लेखक, पत्रकार श्री शुभदर्शन और सहयोगियों के सुप्रयासों से जून 2017 से पुनः प्रकाशित हुई है। पुनर्प्रकाशन वाले जून अंक के संपादकीय में शुभदर्शन जी की बेबाकी पढ़ते ही बनती है जबकि जून और सितम्बर 2017 के दोनों अंकों का कलेवर भी पठनीय है।

डॉ. रमेश सोनी, नरेन्द्र मोहन, बलदेव वंशी, नरेन्द्र शर्मा, सुनीता जैन, राजकुमार कुंभज, सुभाष रस्तोगी, मालती शर्मा, गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ विज्ञान व्रत और वरिष्ठ रचनाकार रामदरश मिश्र की ग़ज़लें; श्री सूर्यकान्त नागर, श्यामसुन्दर दीप्ति, अशोक भाटिया, डॉ. योगेन्द्र शुक्ल, कमलेश बक्शी की लघुकथाएँ, प्रतापसिंह सोढ़ी तथा अहमद नदीम कासमी की कहानियों के अलावा नये पुराने लेखकों की विविध विधाओं की रचनाओं का प्रकाशन निश्चित ही प्रशंसनीय और सराहनीय है।

सितम्बर अंक के संपादकीय में भी शुभदर्शन जी के इस कथन की ताईद की जाना चाहिए कि 'केवल अनुदान, पुरस्कारों से हिन्दी का भला नहीं होगा।'' दरअसल हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने का फुगावा तो शासकों ने समय-समय पर दिया है किन्तु उसे सही अर्थों में अभी तक राष्ट्रभाषा का दर्जा नहीं दिया गया बल्कि उसे राजभाषा - सपंर्क भाषा - पाठ्यक्रम की भाषा आदि गलियारों में ही भटकाया जा रहा है।

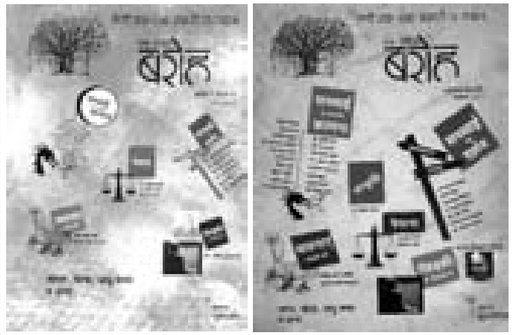

एक प्रयोग : बरोह : साहित्यिक त्रैमासिक वार्षिक सदस्यता 200/-
सम्पादक - शुभदर्शन : कार्यालय दूसरी मंज़िल, नरूला कॉम्प्लेक्स जामा मस्ज़िद हाल बाज़ार, अमृतसर - 143001
संपादकीय पता : 7, फ्रेंड्स कॉलोनी के पीछे सेक्रेड हार्ट स्कूलज, मजीठा रोड, अमृतसर-143001
E-mail:barohhindi@gmail.com

हिन्दी प्रचार सोसायटी अमृतसर के उपक्रम के रूप में पहचान रखने वाली मात्र 200 रुपये वार्षिक की सदस्यता वाली बरोह : साहित्यिक त्रैमासिकी एक सुदीर्घ यात्रा तय करे, ऐसी मंगलकामना के साथ उम्मीद की जाना चाहिए कि बरोह नए रचनाकारों को लगातार प्रोत्साहन और मार्गदर्शन देने का काम करती रहेगी।

26, निर्माण नगर (रवीन्द्र नगर के पास)
उज्जैन - 456010 मोबाइल : 094259-15010

श्रद्धांजलि

वरिष्ठ कला समीक्षक श्री अशोक वक्त की पत्नी एवं वरिष्ठ मालवी कवि स्व. हरीश निगम की पुत्री लेखिका डॉ.राजी वक्त के असामयिक निधन पर समावर्तन परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि...

डॉ.राजी वक्त
निधन : 12 फरवरी 2018

श्रद्धांजलि

प्रख्यात कथाकार, कवि, आलोचक तथा आखिरी कलाम, निष्ठावान, सपाट चेहरे वाला आदमी, सुखांत, भाई का शोक गीत, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, यमगाथा अपनी शताब्दी के नाम, सुरंग से लौटते हुए, लौट आ ओ धार! जैसी कई महत्वपूर्ण कृतियों के सर्जक स्व. दूधनाथसिंह के अवसान पर समावर्तन परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि।

जन्म : 17 अक्टूबर 1936
निधन : 18 जनवरी 2018

भूल सुधार - गत माह समावर्तन परिवार द्वारा स्व.दूधनाथसिंह जी को श्रद्धांजलि देते हुए पृष्ठ 30 पर त्रुटिवश दूधनाथसिंह जी के स्थान पर वरिष्ठ लेखक काशीनाथसिंह जी का चित्र छप गया है, जिसके लिए हम अत्यंत क्षमाप्रार्थी हैं। - का.सं.

पद्मश्री डॉ.वाकरणकर पर केन्द्रित पुस्तक का लोकार्पण

भोपाल। स्थानीय स्वराज भवन सभागार में म. प्र. शासन के संस्कृति विभाग के प्रमुख सचिव मनोज श्रीवास्तव के मुख्य आतिथ्य, अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी वि.वि.के कुलपति आचार्य रामदेव भारद्वाज की अध्यक्षता एवं जनसम्पर्क आयुक्त पी.नरहरि के विशिष्ट आतिथ्य में सम्पन्न समारोह में प्रख्यात चित्रकार और पद्मश्री विष्णु श्रीधर वाकणकर की शिष्या डॉ.रेखा भटनागर द्वारा लिखित पुस्तक 'मालवा की कला विभूति पद्मश्री विष्णु वाकणकर' का लोकार्पण हुआ। पुस्तक प्रकाशन जनसंपर्क संचालनालय, भोपाल ने किया है। पुस्तक में कला गुरु के रूप में डॉ.वाकणकर के अप्रतिम योगदान के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया गया है। पुस्तक में उनके द्वारा मूर्त शैली में बनाये गए चित्र भी शामिल है। अतिथियों ने डॉ.वाकणकर के योगदान और लोकार्पित पुस्तक के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ.रेखा भटनागर को बधाई और शुभकामनाएँ दी। कार्यक्रम का संयोजन एंव संचालन कथाकार - पत्रकार युगेश शर्मा ने किया।

प्रस्तुति : युगेश शर्मा, भोपाल

वनमाली पीठ में आचार्य का एकल रचना पाठ

भोपाल / वासंती मनुहार और प्रकृति की लहक-महक के बीच जीवन के बेशुमार अहसासों को गाते-गुनगुनाते डॉ.रामवल्लभ आचार्य वनमाली सृजन पीठ मे पेश आये, एक ओर मौसम की देहरी पर दस्तक दे रहे फागुन की रंगत थी, तो दूसरी ओर प्रेम और करुणा भरी कसक लिए उनके गीत जीवन के सुख-दुःख का दिलकश इज़हार बने।

वनमाली के इस पाठ प्रसंग की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ गीतकार शिवकुमार अर्चन ने कहा कि ''आचार्य के गीत हमारी आपाधापी और उलझन के बीच ओझल होते जा रहे जीवन का सच्चा और खरा आनन्द देते हैं।''आरम्भ में कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने डॉ.आचार्य की रचना यात्रा पर वक्तव्य देते हुए उन्हें एक बहुआयामी और विलक्षण गीतकार बताया। रामवल्लभ के गीतों को हरिओम शरण, अनूप जलोटा, उदित नारायण, अनुराधा पौडवाल, शेवंती सान्याल सहित अनेक गायकों ने अपने स्वर में ढाला है। उन्हें अनेक सम्मानों से अलंकृत किया जा चुका है। अपने एकल रचना पाठ में आचार्य ने जीवन के तमाम भाव-रस में डूबे गीतों का चयन किया। जैसे ही उन्होंने पढ़ा- ''आज तुम्हारे नयनों में कुछ इंद्र धनुष देखे''...माहौल में प्रीत के रंग घुल गए। इसी प्रवाह में अगली पेशकश थी - ''मेरी निर्दोष चदरिया पर, तुमने कैसा रंग किया, मैं संयम व्रत ले बैठा था, तुमने मेरा व्रत भंग किया।'' उनकी इस रचना पर भी भरपूर दाद मिली- ''अनायास टूट गए, संयम व्रत संत के, लगता है मादक दिन, आ गए बंसत के।'' डॉ.आचार्य की छंदमयी रचनाओं का सिलसिला कुछ ऐसा परवान चढ़ा कि देर तक उसके सम्मोहन में श्रोता बंधे रहे।

प्रस्तुति : वनमाली सृजनपीठ

हिन्दी केवल भारत की नहीं, विश्व की भाषा है

उज्जैन। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, का दो दिवसीय सम्मेलन गत दिनों उज्जैन में संपन्न हुआ। सम्मेलन में मध्यप्रदेश, पंजाब, गुजरात, राजस्थान आदि राज्यों से पधारे साहित्यकारों और स्थानीय हिन्दी सेवियों ने भाग लिया तथा हिन्दी का बहुआयामी स्वरूप और सामर्थ्य, हिन्दी की वर्तमान स्थिति, दूर संचार एवं प्रशासन में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी आदि विषयों पर चिंतन किया गया।

उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता वरिष्ठ मालवी कवि डॉ.शिव चौरसिया ने

की। वरिष्ठ व्यंग्यकार डॉ. शिव शर्मा प्रमुख अतिथि एवं समावर्तन हिन्दी मासिक के कार्यकारी संपादक श्रीराम दवे तथा जनवादी लेखक संघ के अध्यक्ष डॉ. अरुण वर्मा विशेष अतिथि एवं डॉ. श्रीमती जया मिश्रा, श्री बांकेबिहारी अरोड़ा (पठानकोट), डॉ.दिलीप मेहरा, वल्लभ विद्यानगर, आनंद (गुजरात) के आतिथ्य में सम्पन्न हुआ। स्वागत भाषण सम्मेलन के अध्यक्ष लालचंद गोमे ने दिया। प्रथम सत्र के प्रमुख वक्ता के रूप में बोलते हुए प्रो. डॉ.अरुण वर्मा ने कहा कि हिन्दी केवल भारत में ही नहीं संपूर्ण विश्व में विमर्श और चर्चा के केन्द्र में है। प्रथम सत्र का गरिमामय संचालन करते हुए सम्मेलन की महासचिव डॉ. उर्मि शर्मा ने कहा कि आज आवश्यकता राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति बढ़ती भ्रांति को दूर करने की है इसलिये हमें हिन्दी के प्रति जनमानस में जागरुकता बढ़ानी होगी। हिन्दी संचेतना के पक्षधर डॉ.प्रभु चौधरी ने कहा कि वैश्विक परिवेश में हिन्दी की स्थिति महत्त्वपूर्ण है सूरिनाम, मॉरिशस, फिजी में हिन्दी की विशाल परम्परा है, जापान, जर्मन, लीबिया, अमेरिका में हिन्दी की स्थिति काफी अच्छी है। भूमंडलीकरण ने हिन्दी को जन भाषा की विधा बनाने में बहुत योगदान दिया है, इन सबके होते हुए भी हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों नहीं बन पा रही है यह अत्यन्त सोचनीय विषय है।

समावर्तन के कार्यकारी संपादक और प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष एवं कवि श्री श्रीराम दवे ने कहा कि आज हिन्दी बहुत दयनीय स्थिति में है। सैद्धांतिक रूप में हमने हिन्दी को भले ही अपने माथे पर बैठा रखा हो पर व्यावहारिक रूप में वह आज भी दोयम दर्जे की ही भाषा है।

श्री गोरखनाथ (सतना) ने कहा कि हिन्दी मातृ भाषा तो है परंतु उसे राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अथक प्रयास करना होगा। प्रो.दिलीप मेहरा (आणंद) ने गुजरात में हिन्दी की दुर्दशा का ज़िक्र करते हुए कहा कि- मोदी जी हिन्दी बोलकर प्रधानमंत्री तो बन गए लेकिन गुजरात में हिन्दी तो ख़त्म कर दी। हमारी प्राथमिकता आज गुजरात में हिन्दी को बचाना है। (पठानकोट) पंजाब से आए श्री बाँका बिहारी अरोड़ा ने कहा हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने हेतु हमें मिलजुल कर प्रयास करना होगा।

डॉ. जया मिश्रा ने कहा कि ''चिकित्सा के क्षेत्र में हिन्दी बहुत उपयोगी साबित हो रही है। हिन्दी दिलों की भाषा है बच्चों के लिए हिन्दी वर्कशॉप, बाल कवि सम्मेलन आदि का आयोजन कर उनमें हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाना होगा। प्रमुख अतिथि के रूप में विचार व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध व्यंग्यकार डॉ. शिव शर्मा ने कहा कि हिन्दी को अपनी जड़ पकड़नी होगी, हमें अतीत जीवी परम्परा से बचना होगा। सब भाषाओं का अपना-अपना महत्त्व है हमें किसी से हिन्दी की तुलना नहीं करना चाहिए।'' प्रसिद्ध मालवी साहित्यकार डॉ.शिव चौरसिया ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि जैसे नदियों का जल मिलकर गंगाजल बन जाता है वैसे ही कई बोलियों से मिलकर हिन्दी बनी है। भाषा संस्कार में कमी के कारण चरित्र में गिरावट आती है बच्चों को सही भाषा के रूप को सिखाने की ज़रूरत है। हिन्दी अवश्य राष्ट्र भाषा बनेगी यदि हम हिन्दी के प्रति उदार भाव रखे तो ही।'' इस अवसर पर प्रथम सत्र में डॉ. पुष्पा चौरसिया, डॉ.तारा परमार, डॉ.देवेन्द्र जोशी, डॉ.हरीश कुमार सिंह, जगदीश पंड्या, संयोजक हरिशंकर वट एवं अनेक रचनाकार उपस्थित थे। संचालन महासचिव एवं कवयित्री डॉ.उर्मि शर्मा ने किया आभार डॉ.पुष्पा चौरसिया ने माना। अतिथियों द्वारा आरम्भ में सरस्वती पूजन किया गया। स्वागत भाषण प्रांतीय अध्यक्ष श्री लालचंद गोमे ने दिया। सम्मेलन की पूर्व रिपोर्ट एवं कार्यक्रम की जानकारी महासचिव उर्मि शर्मा ने दी।

द्वितीय सत्र में हिन्दीतर प्रदेश में हिन्दी की स्थिति, भारतीय भाषाओं को हिन्दी का योगदान, हिन्दी की बोलियाँ और उनके विकास पर गंभीर चर्चा की गयी। अध्यक्ष पद से बोलते हुए प्रो.शैलेन्द्र शर्मा ने कहा कि हिन्दी के विकास में हिन्दी वाले ही रोड़ा अटकाते हैं। हिन्दी जन जन की भाषा है तथा देश-विदेश में पढ़ी और पढ़ाई जाती है वह जैसी बोली जाती है वैसी ही लिखी जाती हे। अतिथि के पद से सम्बोधन करते हुए सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ.आनंद प्रकाश त्रिपाठी ने हिन्दी के स्तर पर चर्चा करते हुए उसकी दुर्दशा पर विचार व्यक्त किए तथा कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। डॉ. अहिरवाल, डॉ.पुष्पा शर्मा, श्री रामचरण वट, श्रीमती केकरे आदि ने अपने विचार व्यक्त किय। संध्या को संत बालीनाथ विद्यालय की छात्राओं ने नृत्य प्रस्तुत किए आभार डॉ.तारा परमार ने माना।

बाद में कवि सम्मेलन में डॉ.इसरार मोहम्मद खान, डॉ.अरोरा, श्रीमती चनप्रीत कौर, पठानकोट, डॉ.पुष्पा चौरसिया, डॉ.देवेन्द्र जोशी, डॉ.सीमा जोशी, अशोक भाटी आदि ने अपनी रचनाओं से सभी को मंत्र-मुग्ध किया। संचालन पत्रकार एवं साहित्यकार डॉ.देवेन्द्र जोशी ने किया। सम्मेलन के दूसरे दिन के प्रथम सत्र में हिन्दी के बहुआयामी स्वरूप पर गोष्ठी हुई। सम्मेलन के अध्यक्ष जी लालचंद गोमे की अध्यक्षता एवं डॉ. श्रीमती प्रेमलता चुटैल के विशिष्ट आतिथ्य में तृतीय सत्र संपन्न हुआ जिसमें श्री गोरखनाथ (सतना), श्री नरेन्द्रसिंह यादव जी, बॉकाबिहारी (पठानकोट) डॉ. तारा परमार, डॉ.पुष्पा चौरसिया, श्री आर.सी. वट आदि ने हिन्दी के विकास के अनेक बिन्दुओं पर विचार-विमर्श किया एवं हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने पर जोर दिया।

हिन्दी के समस्त विचारात्मक पक्षों पर चर्चा के बाद निर्णयात्मक बिन्दुओं पर सुझाव दिये गये। तत्पश्चात समापन सत्र में अतिथियों एवं विद्वानों को सम्मान पत्र, उपस्थिति पत्र और मानद उपाधियों से सम्मानित किया गया एवं स्मृति चिह्न प्रदान किये गये।

प्रस्तुति : डॉ.उर्मि शर्मा, महासचिव

'चक्रव्यूह के पार' लोकार्पित

इन्दौर। गत दिनों वरिष्ठ लेखक कांतिलाल ठाकरे के निबंध संग्रह 'चक्रव्यूह के पार' का लोकार्पण स्थानीय मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति के सभागार में डॉ.पुरुषोत्तम दुबे की अध्यक्षता तथा डॉ. योगेन्द्रनाथ शुक्ल और हरेराम वाजपेयी के आतिथ्य में संपन्न हुआ। लोकार्पित कृति की मुख्य चर्चाकार डॉ.बुलाकार ने कृति को व्यंग्य निबन्ध निरूपित किया वहीं युवा समीक्षक वाणी शर्मा (दवे) ने संग्रह को जीवन की रंगोली बताते हुए कहा कि निबंधों में जिंदगी के विविध रंग मौजूद है। कार्यक्रम का संचालन डॉ.दीपा मनीष व्यास ने किया तथा आभार सतीश सागरे ने माना।

प्रस्तुति : डॉ.दीपा व्यास, इन्दौर

लता अग्रवाल सम्मानित

भोपाल की वरिष्ठ साहित्यकार डॉ.लता अग्रवाल को अभिनव कला परिषद के गौरवशाली 55वें उत्सव पर गणतंत्र की पूर्व संध्या पर आयोजित अलंकरण समारोह में 'शब्द शिल्पी अलंकरण' से अलंकृत किया गया। हाल ही में उन्हें साहित्य मंडल नाथद्वारा (राजस्थान) द्वारा 'साहित्य सुधाकर' की उपाधि एवं अग्रवाल युवा मंच की और से अग्रवाल समाज की सशक्त महिला (साहित्य के क्षेत्र में) के रूप में भी सम्मानित किया गया।

रमेश यादव महाराष्ट्र राज्य साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित

मुम्बई। साहित्यकार एवं स्वतंत्र पत्रकार श्री रमेश यादव की चर्चित पुस्तक 'लोकरंग महाराष्ट्र की लोककलाएं एवं संस्कृति- एक परिचय को हाल ही में मुम्बई के रंगशारदा सभागृह में महाराष्ट्र राज्य साहित्य अकादमी द्वारा सन 2016-17 का फणीश्वरनाथ रेणु, स्वर्ण सम्मान केन्द्रीय गृहराज्य मंत्री श्री हंसराज अहिर के करकमलों द्वारा एक गौरवपूर्ण समारोह में प्रदान किया गया। पुरस्कार स्वरूप रू.35000/-, स्मृति चिह्न, सम्मान पत्र, प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। इस अवसर पर बतौर प्रमुख अतिथि महाराष्ट्र के सांस्कृतिक एवं शिक्षा मंत्री श्री विनोद तावड़े, विधायक आशीष शेलार, अकादमी के कार्याध्यक्ष नंदलाल पाठक, अभिनेता राजेन्द्र गुप्ता, वरुण बडोला, पुष्पा भारती जी एवं अन्य मान्यवर लोग उपस्थित थे।

'भाव पंखी हंस' लोकार्पित

भोपाल। म.प्र. की राजधानी भोपाल के साहित्य जगत में अपने गीतों की ताज़गी और गहराई के आधार पर अपनी खास पहचान बनाने वाली गीतकार श्रीमती ममता वाजपेयी के प्रथम गीत संग्रह 'भाव पंखी हंस' का लोकार्पण वरिष्ठ पत्रकार एवं म.प्र. गान के रचियता महेश श्रीवास्तव की अध्यक्षता और पुणे के साहित्यकार श्रीयुत श्रीकांत उपाध्याय के मुख्य आतिथ्य में हुआ। समारोह में भोपाल की तीन पीढ़ियों के गीतकारों की उपस्थिति रही, जिनमें ममता जी के काव्य-गुरु और 91 वर्षीय प्रख्यात गीतकार यतीन्द्रनाथ राही भी शामिल थे।

प्रस्तुति : युगेश शर्मा, भोपाल

घरौंदे

लघुकथाकारों के लिए विशेष स्तम्भ

समावर्तन को विशिष्टतम मासिक पत्रिका बनाये रखने के लिए इसमें हर माह कई स्तम्भ नियमित रूप से शृंखलाबद्ध प्रकाशित होते हैं जिसकी प्रतीक्षा पाठकों को रहती है। इस शृंखला में लघुकथाकारों के लिए एक नए स्तम्भ 'घरौंदे' की शुरूआत की जा रही है। जिसमें प्रतिमाह किसी एक लघुकथाकार की दस-बारह लघुकथाएं प्रकाशित की जाएगी। **इस स्तम्भ की सम्पादक होगी श्रीमती वाणी (दवे) शर्मा।** युवा लघुकथाकारों से आग्रह है कि वे अपनी 15 लघुकथाएं डाक से अथवा ई-मेल से अपना संक्षिप्त परिचय एवं फोटोग्राफ सहित निम्नलिखित पते पर **टंकित (कृतिदेव फोन्ट 010 में)** रूप में भेजें। चयनित लघुकथाओं पर 'घरौंदे' की विशेष सम्पादक अपनी सम्पादकीय टिप्पणी भी हर अंक में प्रस्तुत करेगी। 'घरौंदे' हेतु रचनाएं निम्नानुसार पते पर डाक से अथवा ई-मेल से भी भेजी जा सकती है।

श्रीमती वाणी (दवे) शर्मा
द्वारा श्री अंकित शर्मा 17/1 नार्थ राज मोहल्ला, इन्दौर म.प्र. 452001 ई-मेल :samavartan@yahoo.com

इस बार एक छोटी कहानी - मुक्त करो

मुकेश वर्मा

देखो, उस लड़के का पीछा करो जो तेज साइकिल चलाता हुआ भीम नगर से आता है और तुम्हारे घर का चक्कर काटकर अब अलकापुरी जा रहा है। उसका रंग काला। घुन्नी आँखें। नेवले सी चपलता से चारों ओर निगाहें फिराता रहता है। सूरत से छटा हुआ बदमाश लगता है, बल्कि है ही। हाथ-पैरों में बला की चुस्ती-फुर्ती। सतरह-अठारह साल का होगा लेकिन चेहरा बेरौनक। मुँह से बदबू आती है। खुले-आम बीड़ी पीता है। महीनों नहाता नहीं। कपड़े कभी धोता नहीं। नाक पर हाथ मत रखो। उस पर नजर रखो। वह रोटी की खातिर रोजगार के लिए बेहाल है। उसने सुबह से बल्कि कल शाम से कुछ खाया नहीं है। वह कहीं भी चोरी कर सकता है। वह मौके की तलाश में है और शायद इसलिए आये-दिन तुम्हारे घर के बाहर बेफजूल खड़ा रहता है।

यकीनन, आप भले आदमी हैं। आपसे जो मिलता है, कहता है कि देवता सरूप हैं। आपने अपनी जिन्दगी में सिर्फ एक कुत्ते को बन्दूक की गोली से मारा था। वह पागल हो गया था। इस तरह आपने शहर को खौफनाक आतंक से मुक्त किया था। एक यही हिंसा आपके पुण्य-खाते में है। आपके कर-कमलों को फिर ऐसी जरूरत ही नहीं पड़ी। नौकरों की इतनी फौज किस काम की, साहेब आपके धुले हाथ आश्वस्ति जगाते हैं। निश्चित ही सभी जानते हैं कि आप दयालु हैं। संकट में भी इत्मीनान और पान चबाते धीरे धीरे मधुर मीठा बोलते हैं जैसे नरक भरी जिन्दगी की यातना से किसी बकरे को आराम से मुक्त कर रहे हों। ऐन इस वक्त और अमूमन हर वक्त आपकी आवाज ऐसी धारदार जैसे भीतर कारखाने में तीखी सान पर पैने कर शब्द बाहर फेंके जा रहे हो। इस क्षुद्र संसार में दिन-रात आपा-धापी करके आप अपने फूल से बच्चों और फल जैसी पत्नी को जो दो-चार चीजें दे पाते हैं, इस हरामजादे ने कभी सपने में ना देखीं, ना सुनीं, इसलिए वह हमेशा लालची कुत्ते की तरह इस ओर ताका करता है। उसकी आँखों में बेचैनी और भूख ही नहीं होती वरना दो रोटी आपके द्वारा फेंके जाने पर वह तलुए चाटने लगता। कुछ बरसों बाद बूढ़ा या अपंग अपाहिज होने पर वह निश्चित ही ऐसी घिनौनी हरकतें करेगा। लेकिन अभी उसकी आँखों में सख्ती और उस चोट का खांटी निशान है जो जिस्म पर नहीं दिखती पर भीतर कहीं गहरे खिची होती है। साहेब, यही बात खतरनाक है। इस खुद्दार उठान को कमर-तोड़ काम के बोझ से जमीन की हद तक झुकाया जा सकता है। लेकिन उसके पास काम ही नहीं है। तो सवाल यह है कि वह कोई काम क्यों नहीं करता !

यह सवाल उसके सामने भी है। वह काम करना चाहता है, नौकरी भी, चाकरी भी, लेकिन मूर्ख देश की हालत नहीं समझता कि जब नौकरियाँ ही नहीं हैं तो उसे कौन कहाँ से देगा ? दरअसल देश में इतने ज्यादा लोग पैदा हो गए हैं, खेतों में दाने और पानी में मछलियाँ इतनी कम हैं कि इनके पेट के पाताल सरीखे गड्ढों को रोज-रोज कैसे भरा जा सकता है ! बच्चे पर बच्चे हर मिनिट पैदा होते जा रहे हैं। परिवार-नियोजन मानते नहीं। आपके देखिए, दो बच्चे हैं। एक बेटा, एक बेटी। अहा ! बेटा बड़ा होकर आपका धंधा संभालेगा। वंश बढ़ायेगा। बेटी पराये घर जायेगी। दो घरों में व्यावसायिक संबंध बढ़ेंगे तो धन बढ़ेगा, मान-अभिमान बढ़ेगा। अगले और पिछले संसार के सुनहरे नक्शे आपकी आँखों में ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया मुट्ठी में बंद है।

पर ध्यान से देखो, इसकी मुट्ठियाँ खुली हैं। उनमें कुछ भी समेटा जा सकता है। आँखों में लाल डोरे उभर रहे हैं। दिल में आग जग रही है। यहीं खतरा है। वह कुछ भी कर सकता है। इन दिनों अवैध शराब के अड्डों, तस्करी के ठिकानों और चोर-गिरहकटों व बदमाशों में उसकी आवाजाही बढ़रही है। जल्द ही वह पागल जानवर की तरह सड़कों पर डोलने लगेगा। पुलिस को चकमा देगा। चोरी और खून करेगा। आपके बच्चों का शहर घूमना मुहाल कर देगा। वह अभी से उंगलियों के बीच पिस्तौल की जगह बनाने लगा है। हद हो रही है।

घेर लो। यह सही समय है। साइकिल के पहिये में अड़ी डालकर जमीन पर गिरा दो। उसकी जामा-तलाशी लो। उसकी जेब में से बीड़ी का बंडल, रोजगार-दफ्तर का घिसा-फटा कार्ड, कुछ इश्तिहार, सस्ता लाल रूमाल और औकात के बराबर चिल्लर होगी। पैन्ट के पिछले पॉकिट में मैल भरे कंघे के साथ एक मुसी-तुसी चिट्ठी होगी। पो0आ0 मथाईखेड़ा, जिल्ला गोरखपुर से। फाड़ कर फेंको। उसे क्या पढ़ना। फिर भी पढ़डालो। ऐसों पर पूरी नजर रखना जरूरी है। क्या लिखा है, ''संजय बाबू को मलूम हो कि जिमीन गिरवी पड़ी है। पानी नहीं बरसने से इस साल भी दाना नहीं उगा। और मलूम हो कि तुम्हारे छोटे भाई-बहीन इसकूल से भगा दिए कि फीस नहीं भरी। और मलूम हो कि बिटिया ससुराल से हँकाल दी गई है। और मलूम हो कि चार दिन से चूल्हा नहीं जला। कम से कम पांच सौ रूपीया तो भेज ही देना। और वहाँ ठीक से रहना। भगवान ने चाहा तो एक दिन सब ठीक हो जायेगा। संजय बाबू को मलूम हो कि छुटका भी भोपाल आना चाह रहा है। दोनों भाई हेल-मेल से रहना। पइसे का मत भूलना। बाबू, मात पिता पर दया रखना ...'' और ना जाने क्या क्या.....

ओफ्फोह, नरक बढ़रहा है। वह नरक का कीड़ा बन रहा है। अब साथ और भी मकोड़े आयेंगे। उसे मुक्त करो। हाँ, जैसी आपकी मर्जी हो, बकरे की तरह या कुत्ते की तरह। लेकिन करो और जल्दी करो।

समय कम है। आपको भी स्वच्छता-अभियान के डिनर पर जाना है। दीगर जरूरी काम भी निबटाने हैं। स

मोबाइलः 94250-14166

ઇન્ડેક્ષ્ટ-સી

ઇન્ડસ્ટ્રીયલ એક્સ્ટેન્શન કોર્સ
(ગુજરાત સરકારની સંસ્થા)

પત્ર વ્યવહાર :
ઓફિસ નં. ૩૧, ઉદ્યોગ ભવન, સેક્ટર - ૧૧, ગાંધીનગર.
ફોન : ૦૭૯ - ૨૩૨૪૭૫૧ - ૨૩૨૪૭૫૨
E-mail : esdire-indext-c@gujarat.gov.in
Website : www.craftsGujarat.gujarat.gov.in

ઇન્ડેક્ષ્ટ-સી - કુટિર અને ગ્રામોદ્યોગ સ્થાપવામા માહિતી અને માર્ગદર્શન પૂરું પાડતી ગુજરાત સરકારશ્રીની સંસ્થા

ઈન્ડેક્ષ્ટ-સીની રચના કોઈપણ નફાકારક પ્રવૃત્તિ સિવાયના નીચેના ઉદ્દેશો માટે રચેલા છે.

૧. કુટિર અને ગ્રામોદ્યોગ સ્થાપવા ઈચ્છુક સાહસિકોને ઉદ્યોગોની પસંદગી, સ્થળ પસંદગી તથા જે તે ઉદ્યોગ માટે સરકારશ્રીના પ્રવર્તમાન પ્રોત્સાહનો / લાભો વિગેરેની જાણકારી આપવી.

૨. કુટિર અને ગ્રામોદ્યોગ ક્ષેત્રની વિવિધ સહાયની યોજનાઓને એકત્રિત કરી તે વિશે ભાવિ ઉદ્યોગ સાહસિકોને માહિતી આપવી અને આવી માહિતીનું સાહિત્ય પ્રકાશિત કરવું.

૩. કુટિર અને ગ્રામોદ્યોગ ક્ષેત્રના વિવિધ ઉદ્યોગની માહિતી અને ઉદ્યોગ માટેની રૂપરેખા (પ્રોજેકટ પ્રોફાઈલ)એકત્રિત કરી તે વિશે ઉદ્યોગ સ્થાપવા ઈચ્છુક વ્યકિતઓને તેની જાણકારી આપવી.

૪. કુટિર ઉદ્યોગ ખાતાની તથા કુટિર ઉદ્યોગ સંલગ્ન બોર્ડ / કોર્પોરેશનની વિવિધ યોજનાઓના ફોર્મ / અરજીપત્રક પૂરા પાડવા.

૫. કુટિર ઉદ્યોગના વિકાસ માટે જાહેરાત મારફત પ્રચાર ઝૂંબેશ ચલાવવી.

૬. કુટિર ઉદ્યોગના વિકાસ માટે સેમિનાર, વર્કશોપ તથા પ્રદર્શનનું આયોજન કરવું અને આવા આયોજન માટે સહાય પૂરી પાડવી.

૭. કુટિર ઉદ્યોગના વિકાસમાં ઉપયોગી હોય તેવી અન્ય પ્રવૃતિઓ હાથ ધરવી.

૮. કુટિર ઉદ્યોગ ક્ષેત્રની આર્થિક સમસ્યાઓના નિવારણ માટે બેન્કો તથા અન્ય નાણાંકીય સંસ્થાઓ જોડે ચર્ચા-વિચારણા હાથ ધરવી.